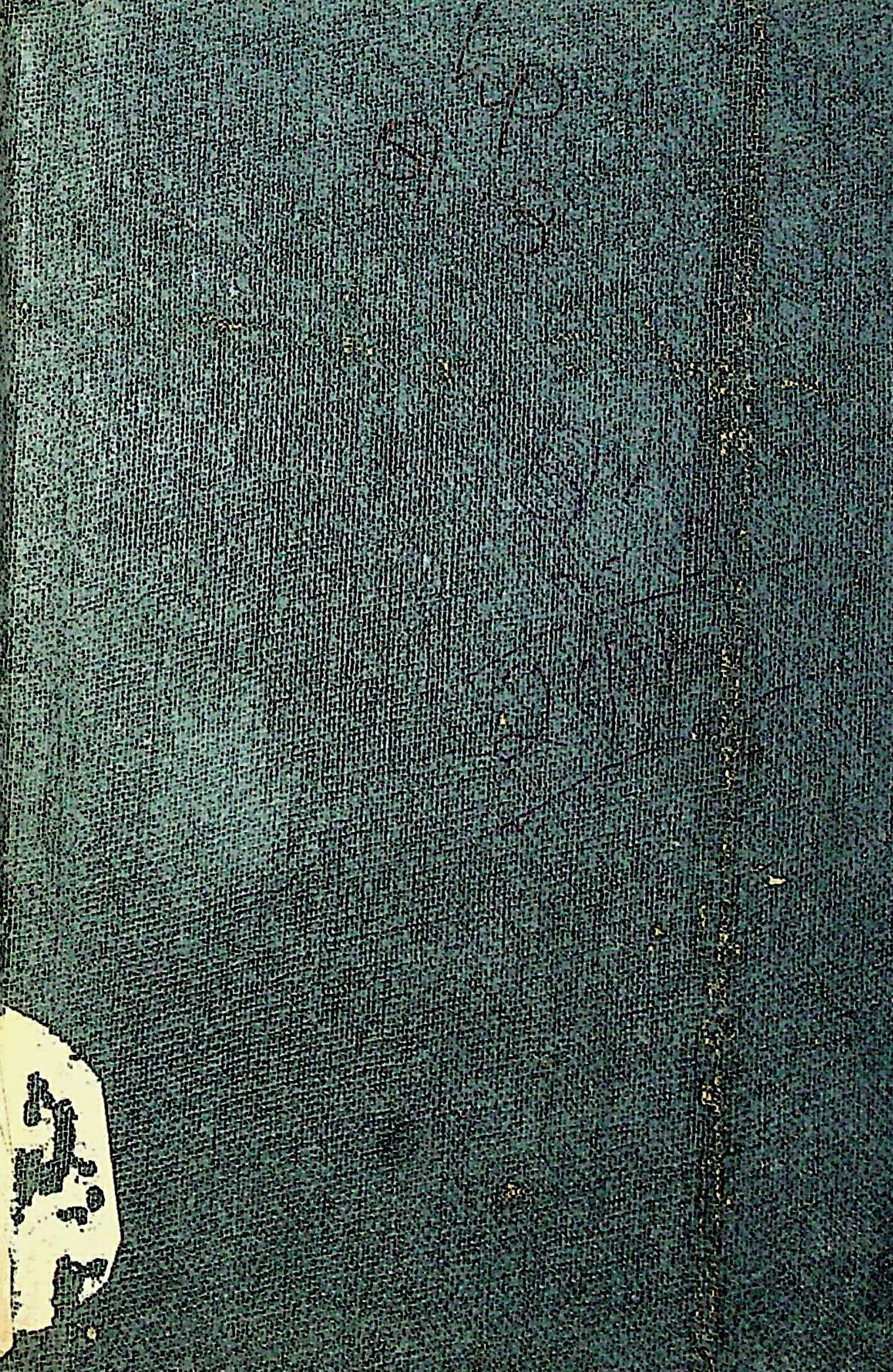


[illegible]







योगवासिष्ठसार:

चयनकर्ता

नर्वदा प्रसाद लाठ

प्रकाशक

बाबा बलदेव वाणी मन्दिर

मन्डरेला (राजस्थान)



प्रथम संस्करण–१०००



मूल्य रु० ३.००



तिथिः

जन्माष्टमी संवत २०३१



मुद्रक

काशी मुद्रणालय

विश्वेश्वरगंज, वाराणसी।

श्रीहरिः

१००८ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती

श्री 'करपात्रीजी' महाराज का आशिर्वाद

योगवासिष्ठ वेदान्त शास्त्र के सारतम तत्वों से

ओतप्रोत सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योगवासिष्ठ का

ही सार संकलन किया

गया है।

अतः संग्राह्य ग्रन्थ है

करपात्र स्वामी

अनुक्रमः



प्राप्ति-स्थान

१—बाबा बलदेव वाणी मन्दिर

मन्डरेला (राज०)

२—मोहन लाल लाठ

५ विवेकानन्द रोड

कलकत्ता ७

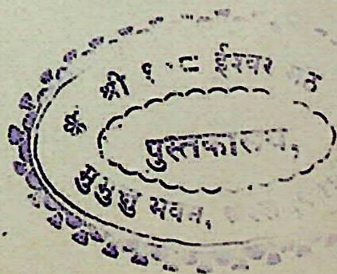
प्रकाशकीय

'योग वाशिष्ठः—भारतीय संस्कृति व आध्यात्मिक जगत् का एक अनुपम ग्रंथ है। महर्षि वाल्मिकि द्वारा भगवान राम को मानव जीवन के लक्ष्य आत्मबोध का परिचय कराने के लिए इसकी रचना हुई थी। साधक, संत, जिज्ञासु सभी को यह रत्न-पेटिका के समान प्रिय है। अगाध ज्ञान राशि का कुछ परिशीलन कर थोड़े से मुक्ता चयन किये गये हैं वे विज्ञजनों की सेवा में समर्पित करते हुए हम अपने को कृतार्थ मानते हैं।

जिनको पूरा ग्रंथ हृदयगंम नहीं हो सकता वे इन चुने हुए भाव मुक्ताओं का समादर करेंगे इसी भावना से यह प्रकाशन है-

बाबा बलदेव वाणी मन्दिर

मन्डरेला (राज०)



समर्पण

जिनकी छत्रछाया में लालित पालित होकर मैं कुछ योग्य बन सका। उनकी ही संनिधि में चुने हुए ये श्लोक उनके कर कमलों में समर्पित करते हुए मुझे अपार आनन्द हो रहा है।

अनुगामी

नर्वदाप्रसाद लाठ

मेरे पुज्य पिताजी—

स्व० श्री लक्ष्मी नारायण जी लाठ



जन्म संवत् १६३४

काशीवास संवत् २०१७



सम्मति

(श्री १०८ स्वामी अनन्तानन्द जी सरस्वती)

नारदघाट वाराणसी

सृष्टि के समस्त प्राणियों में मनुष्य सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ माना गया है। परात्पर परमात्मा श्री नारायण ने अपनी अचिन्त्य माया शक्ति से वृक्ष सरीसृप (सर्पादि) पशु पक्षी मच्छर मत्स्यादि अनेक जीवों की रचना की किन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, जब ब्रह्म साक्षात्कार करने वाली बुद्धि से युक्त मनुष्य की रचना की तो बड़े प्रसन्न हुए।

श्री मद्भागवत में कहा है कि—

सृस्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देव ॥

भाव यह है कि मनुष्य, सुन्दर भोजन, सुन्दर वस्त्र अत्यधिक धन बढ़िया व्याख्यान व अच्छे ग्रन्थ लिखने से श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम नहीं होता किन्तु मनुष्य जन्म का परम लक्ष्य परमानन्द स्वरूप पर ब्रह्म को साक्षातकार करें इसी में उसकी श्रेष्ठता है।

इस कार्य कारण के संघात रूप देह में अनादि अविवेक से -अहम्' 'मम्' यह अध्यास हो रहा है अर्थात् अनित्य, अशुचि, अपवित्र और अनात्मा इस देह में नित्य, शुचि व आत्मत्व की प्रतीति हो रही है, इस विपरीत प्रतीति का नाम ही अध्यास है, इसी को अविद्या अविवेक और संसार भी कहते हैं। यही विपरीत ज्ञान—देह में अहं बुद्धि ही जीव का बन्धन है। विवेक द्वारा इस देह को अनित्य अशुचि और अपवित्र जानकर नित्य पवित्र विज्ञान

स्वरूप, प्रत्यगात्मा को एक अज अद्वितीय ब्रह्म से अभेद ज्ञान होने पर अविद्या अध्यास की निवृत्ति हो जाती है। अध्यास निवृत्ति होने पर जीवको "मैं ब्रह्म स्वरूप हूं यह ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के अभेद ज्ञान को ही आत्मसाक्षात्कार कहते हैं, इसी को वन्धनिवृति एवं मुक्ति भी कहते हैं, यही जीवका परम लक्ष्य है।

इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रस्तुत ग्रंथ योगवाशिष्ठ में चार साधन कहे गये हैं --

मोक्षद्वारे द्वारपाला: चत्वारः परिकोर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोष चतुर्थों साधु सगमः॥

शम - मनोनिग्रहः विचार—आत्माही सत्य है आत्मासे अन्य सभी दृश्य मिथ्या है, सन्तोष यथा लाभ मे तृप्त रहना और साधु संगति, इन चारो में से एक में भी दृढ़ता होने पर सबसे सम्बन्धित मोक्ष रूपी राजमहल का द्वार खुल जाता है तथा जीव अपने को परमानन्द स्वरूप जान कर सदा के लिए वन्ध यानि जीवन मरण रहित होकर कृत्य कृत्य हो जाता है।

इस ब्रह्मात्मैकत्व का वोध कराने के लिए बड़े-बड़े मीमांसा ग्रंथ है जो संस्कृत भाषा में है किन्तु सर्व साधारण को सुलभ नहीं है अतः जिनको थोड़ा भी शास्त्र ज्ञान है ऐसे श्रद्धालु मुमुक्षु जनों को योग वसिष्ठ के स्वाध्याय चिन्तन से लाभ होता है। इसमें अनेक युक्तियां एवं कथानकों के उदाहरण देकर आत्मा एवं अनात्मा का विवेक कराया गया है।

योग वासिष्ठ विशाल ग्रंथ है, सबका प्रवेश भी नहीं हो पाता इस पुस्तिका में श्री नर्वदाप्रसाद लाठ ने समस्त योग वासिष्ठ का अध्ययन करके कुछ सारभूत श्लोको का संग्रह किया है। मैं आशा करता हूं कि इससे श्रद्धालु व मुमुक्षु साधको को बड़ा लाभ होगा। इस लोकोपकारी कार्य के लिये उनको हृदय से धन्य वाद देता हूं।

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मने।
वेदः प्राचेदसादासीत्साक्षात्रामायणात्मना॥

वेदों से जानने योग्य दशरथनन्दन परमपुरुष भगवान् रामचन्द्र जी के आविर्भूत होने पर वाल्मीकि महर्षि द्वारा रामायण के रूप में साक्षात् वेद का ही आविर्भाव हुआ।

उसमें श्रीरामचन्द्रजी की कथा द्वारा पूर्वरामायण में उत्तरकाण्ड सहित छः काण्डों से कर्मकाण्ड का निरूपण किया है। और इस उत्तर रामायण में अर्थात् योगवासिष्ठ में छः प्रकरणों द्वारा ज्ञान-काण्ड का निरूपण किया है।

अतः योगवासिष्ठ मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त लाभप्रद है।

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयम्
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात्॥

अनन्त शास्त्र है अनन्त विद्याएँ है अल्पावस्था और उसमें भी बहुत विघ्न। जैसे हंस सारभूत दूध को जल के मध्य से निकाल लेता है। वैसे ही सारभूत वस्तु को बुद्धिमान् जन कार्य में ले लेते हैं।

अतः श्री नर्वदा प्रसाद जी लाठ ने जो चयन किए है वे सूक्तियों के रूप में मंत्र ही है।

महेश प्रसाद शास्त्री
नारदघाट, वाराणसी

नम्र निवेदन

बाल्यावस्था से ही मुझे धार्मिक संस्कारों का सहारा मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। मुझे धुधला सा स्मरण होता है कि जब मैं छोटा था तब गांव के श्रीहनुमानजी के मन्दिर में दर्शकों के लिए यदा कदा जाया करता था। पीछे कुछ लिखना पढ़ना आ जाने पर श्रीतुलसीरामायण "पं० ज्वाला प्रसाद जी मिश्र की टीका" मेरी प्रधान पाठ्य पुस्तक हुई। एक बार मुझे पोस्टआफिस में एक रजिष्ट्री पत्र लगाने के लिए भेजा गया जो मेरे गांव से डेढ़ मील दूर था,उन दिनों दो आने में ही रजिष्ट्री स्टाम्प आती थी। मेरे हाथ से अनजान में ही वह स्टाम्प कहीं गिर पड़ी, मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया। पैसे पास में नहीं थे लौटकर जाने आने की परेशानी तथा डाकखाना बन्द हो जाने का भय था। मैं मन ही मन श्रीहनुमानजी का स्मरण करते हुए रास्ते में ढूढने लगा, कुछ देर बाद वह स्टाम्प मिल गया इस छोटी सी घटना का मेरे मन पर काफी असर पड़ा और मेरी श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई।

विद्यार्थी जीवन में भी मेरा झुकाव आध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ने की तरफ ज्यादा रहा। स्कूल में पुस्तकालय से मैं कहानी किस्से व उपन्यास आदि को छोड़ कर ऐसी पुस्तकें ही ज्यादा लेता था जिनमें विशेष जानकारी मिलती। संस्कृत से मुझे विशेष प्रेम था सन् १९१७ में स्वः लोकमान्यतिलक का गीता रहस्य (हिन्दी अनुवाद) मेरे हाथ लगा। संयोग से मैं बीमार पड़ गया रुग्णा वस्था में उस ग्रंथ को बड़ी जल्दी पढ़ गया। उसका अध्यात्म प्रक-रण पढ़ते-पढ़ते तो मैं इतना तन्मय हो गया कि मुझे अपनी बीमारी

का भी भान नहीं रहा। इस तरह कम वेशी रुप में अध्ययन चलता रहा यद्यपि गृहस्थी के झंझटों में अवकाश कम ही मिलता वैसे मेरा अध्ययन छिट पुट ही था। न तो किसी विद्वान के नीचे नियमित रुप से शास्त्र पढ़ने का अवसर मिला और न कोई प्रक्रिया ग्रंथ पढ़ने की समझ ही मुझे प्राप्त थी अतः मेरी जिज्ञासा वृतिका समाधान नही हो पाया।

मेरे पूज्य पिता जी ने काशी में दीर्घकाल तक निवास किया। उनकी सेवा में यदा कदा काशी जाता तब वहां मुझे कुछ सत्संग शास्त्रचर्चा का प्रायः अवसर मिलता रहा। वहीं पर एक परिव्राजक महात्मा के एक बार दर्शन हुये और उन्होंने मुझे अपनी जिज्ञासा शान्ति के लिए योग वशिष्ठ पढ़ने का आदेश दिया। वड़ा ग्रंथ था पर मैंने धीरे धीरे पढ़ना आरम्भ किया और प्रथम वाचन आशा से जल्दी ही पूरा हो गया। यद्यपि यत्र तत्र विषय की दुरुहता होने से पूरा-पूरा समझ में नहीं आया तो भी प्रतिपादन व युक्तियों द्वारा मेरी जिज्ञासा धीरे-धीरे शान्त होती गई और जो संगति कहीं अन्यत्र वैठा नहीं पा रहा था वह वैठ गई तथा मेरी उलझने समाप्त हो गई। वीच वीच में समय मिलने पर इस अपूर्व ग्रंथ का अवलोकन करता रहा। अपनी स्मृतिका तारतम्य बनाये रखने के लिए प्रसंगानुसार कुछ श्लोक मैंने अपने उपयोग के लिए चुन लिए थे। जिनको देखते रहने से विषय का स्मरण होता रहे।

उस समय इनको प्रकाशित करने की कोइ भावना नहीं थी। सहजभाव से ही चयन किए हुए इन श्लोको को पुस्तिका का रूप दिया जाय यह सलाह सत्संग चर्चा में आई। तब सिर्फ संस्कृत में ही छपाने की वात थी। यहां श्री अनन्त विभूषित स्वामी १०८ श्री अनन्ता नन्द जी सरस्वती (नारद घाट वाराणसी) की सम्मति लेने के लिए यह चयन दिखलाया तो उन्होंने इसका समादर करते हुए हिन्दी भावार्थ देने का आग्रह किया जिससे यह पुस्तिका

सर्वसाधारण के लिए अधिक उपयोगी हो जायगी और यह उनकी महती कृपा का प्रसाद है कि उन्होंने एवं श्री महेश प्रसाद शास्त्री जी ने अपना अमूल्य समय देकर इसका भावार्थ (हिन्दी अनुवाद) कर दिया। मैं स्वामी जी का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपनी उदार भावना से मेरा उत्साह वर्धन किया।

साधक व जिज्ञासु जन किंचित भी लाभान्वित होंगे तो मैं अपने को कृतार्थ मानूंगा।

चयनकर्ता

नर्बदा प्रसाद लाठ

उपोद्घात

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्

द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्

भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताऽस्मः ॥

मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को ही माना गया है। उसी के निमित्त कर्म करना ठहरा। इसीलिए योग वासिष्ठकार ने मोक्ष को आगे रखते हुए भी मुख्य विवेचना कर्म की ही की है। ग्रन्थ का आरम्भ तथा समाप्ति इसका प्रमाण है। आदि कवि वाल्मीकि प्रणीत इस ग्रन्थ की महिमा मैं क्या बता सकता हूँ ? पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न पहलुओं से मनोविज्ञान का-जीवन सिद्धान्तों का इतना सूक्ष्म और विशद स्पष्टीकरण शायद ही अन्यत्र मिले। अद्वितीय शास्त्र है यह इस विषय का। भाषा की दृष्टि से भी यह एक उत्तम काव्य होना चाहिए। पर इस सम्बन्ध में तो भाषाशास्त्र के विद्वान ही कुछ कह सकते हैं। मुझे तो लगता है कि आदिकवि के पूर्वरामायण ग्रन्थ के समान इस उत्तररामायण ग्रन्थ की मान्यता लेने में भारी भूल हुई है।

कर्म के विवेचन में यह ग्रन्थ सबसे मुख्य व अपूर्व है। इसका आरम्भ ही कर्म करने या कर्म छोड़ने के प्रश्न से होता है। इसी सिलसिले में जीवन की सभी ग्रन्थियों को सुलझाते हुए विषय के इस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है कि प्रश्न ही निर्मूल सा हो जाता है। प्रश्नकर्ता की अपनी दृष्टि ही इतनी व्यापक

और स्पष्ट हो जाती है कि प्रश्न का ही महत्व नहीं रह जाता और वह अपने अभिलषित पथ पर चल पड़ता है।

त्रेतायुग में दण्डकारण्य की तापस मंडली में एक सुतीक्ष्ण नाम का साधु था। स्वाध्याय से तथा साथी तपस्वियों से चर्चा करके भी जब वह अपने संशय का समाधान न कर पाया तब गुरुके पास जाकर बोला–भगवान् मोक्ष का साधन (कारण) कर्म है या ज्ञान अथवा दोनों यह निश्चयपूर्वक कहने की दया करें।

महर्षि अगस्ति बोले मोक्ष के लिये दोनों चाहिए। केवल एक नहीं। न कर्म न ज्ञान। फिर एक कथा आरम्भ करदी।

कोई कारुण्य नामक ब्राह्मण पठन पाठन में प्रवीण होकर घर आया। उसे काम से उदासीन देखकर उसके पिता ने पूछा इस तरह निठल्ले बैठने से कैसे चलेगा? इस पर पुत्र ने कहा कि शास्त्रों में निरन्तर कर्म करते रहने का और कर्म त्याग का भी आदेश है। अतः समझ में नहीं आता कि क्या करूँ? इस पर अग्निवेश्य बोला कि तुम्हारा प्रश्न गहन है मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ उस पर विचार करके जैसा अच्छा लगे, करना।

किसी समय एक सुरुचि नाम की अप्सरा हिमालय के किसी सुन्दर शिखर पर बैठी गंगा तट की शोभा निरख रही थी। इतने में एक देवदूत उधर से आ निकला। सुरुचि ने उससे पूछा, देवदूत कहो, कहां से आये हो व कहां जा रहे हो? देवदूत ने कहा, अरिष्टनेमी राजा वैराग्य होने से घर छोड़कर गंधमादन पर्वत पर तप करने आये थे। मैं इन्द्र को उनका समाचार देने जा रहा हूँ।

अप्सरा को राजा का वृतान्त जानने की उत्सुकता हुई। देवदूत ने बतलाया कि मैं उनको स्वर्ग में ले जाने के लिये विमान लेकर गया था पर राजा ने स्वर्ग के गुण दोष जानकर स्वर्ग जाना अस्वीकार किया और वहीं तपस्या करते करते ही शरीर त्याग

करना ठीक समझा। इस समाचार से इन्द्र को वड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने मुझे राजा को महर्षि बालमीकि के आश्रम में ले जाकर महर्षि से राजा को ज्ञान प्रदान करने के लिये निवेदन करने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँच कर राजा अरिष्टनेमी ने महर्षि से संसार दुःख से छूटने का उपाय पूछा। मुनि ने उनको श्रीवसिष्ठ व श्रीराम के संवाद के रूप में महारामायण (योगवाशिष्ठ) का उपदेश दिया और कहा कि इस ग्रन्थ को पहले मैंने अपने शिष्य भरद्वाज को सुनाया था वही तुमको सुना रहा हूँ सावधान होकर सुनो।

दशरथनन्दन श्रीराम विद्याध्ययन समाप्त कर पिता से अनुमति लेकर भाइयों सहित तीर्थाटन को निकले। अपने सुव्यवस्थित राज्य से चल कर भूमण्डल के सुन्दर सुन्दर स्थान, रम्य नदी तट, उपत्यकायें देखते, पवित्र तीर्थ स्थान व पुण्य सरोवर में स्नान-दानादि करते हुये भ्रमण से सकुशल लौट कर सुखपूर्वक अयोध्या में अपना नियमित कार्य करते हुये रहने लगे।

कुछ काल बीतने पर श्रीराम दिन २ दुबले होने लगे। उनका शरीर पीला पड़ गया। सदैव चिन्ताग्रस्त से रहते थे। उनकी यह दशा देखकर अन्य भाइयों की भी वही हालत होने लगी। माता पिता भी चिन्ता में पड़े। महाराज दशरथ ने गुरु से अपना कष्ट सुनाया। वसिष्ठजी बोले, इसमें घबराने की क्या बात है सब ठीक हो जायगा। इसी बीच महर्षि विश्वामित्र पधारे। यज्ञ विध्वंसक राक्षस सुबाहु और मारीच से अपनी रक्षा के लिये राम-लक्ष्मण की याचना की तब राजा ने अस्वीकार करके अन्य कारणों के साथ राम का बिल्कुल कृश होना और खिन्न रहना भी बताया। महर्षि विश्वामित्र ने कहा कि राम की यह दशा किसी विपत्ति या रोग से नहीं है वैराग्य उदय के कारण है समझाने से उनका मोह दूर हो जायेगा। दशरथजी की आज्ञा से भाइयों सहित राम वहां लाये गये। आते ही सबने यथा योग्य

सबको प्रणामादि किये व यथास्थान बैठ गये। तब महर्षि वशिष्ठ और विश्वामित्रजी ने राम को आश्वासन देते हुये अपनी मानसिक समस्याओं के वर्णन करने का आदेश दिया।

अयोध्या के राजघराने में जन्म लेकर विद्योपार्जन के अनन्तर तीर्थ भ्रमण आदि का वर्णन करते हुये राम ने कहा कि मेरे मन में यह विचार उठ रहा कि इस संसार में सुख क्या है? जहां निरंतर जन्म मरण का चक्कर चल रहा है। जंगल के गर्त में पड़े हुये मृग की भांति हम सब मोह के गर्त में पड़े हुये हैं। इससे छुटकारा पाने की चिन्तारूपी अग्नि से मेरा हृदय बराबर जल रहा है।

मानव जीवन के सम्बन्ध में राम का यह भाषण (वैराग्य प्रकरण) अभूतपूर्व और गम्भीर चिन्तन द्वारा किया हुआ विलक्षण विश्लेपण है।

धन सम्पति, आयु, शरीर की अवस्थायें, अहंकार, तृष्णा मन की चंचलता, स्त्रियों की आपातरमणीयता, काल की क्रूरता सब की अस्थिरता व असारता आदि भिन्न २ भावों की स्पष्ट सरल एवम् मर्मस्पर्शी शब्दों में भलीभांति व्याख्या करते हुए अन्त में कहा है कि इस तरह विचार करने पर मुझे न तो कुछ अच्छा लगता है न कुछ कहने की प्रवृति ही होती है। दिन २ सब कुछ कड़आ होता जा रहा है। यही विचार सदा सामने रहता है कि इस जलन की शान्ति किस प्रकार हो सकती है मैं सर्वत्र ही आस्थाविहीन हो रहा हूँ। अतः आपसे यही प्रार्थना है कि जिस प्रकार मेरा यह क्लेश दूर हो वैसा उपाय मुझे बताइये। इस संसार में बिना व्यवहार किये तो स्थिति नहीं हो सकती। बिना राग-द्वेष के व्यवहार कैसे हो सके—अग्नि में पड़कर भी जलना नहीं हो ऐसी कोई युक्ति बतावें नहीं तो मैं खाना पीना छोड़कर सारे अनर्थों का मूल यह शरीर ही त्याग दूँगा। इतना कहकर श्रीराम मौन होगए।

उस समय महाराज दशरथ की सभा में ऋषि, महर्षि, विद्वान् ब्राह्मण, राजपुरुष, महारानियां (झरोखों में), मन्त्री- महाजन, भृत्य सामन्त आदि भूतल की विभूतियाँ तो उपस्थित थीं ही पर आकाश में सिद्ध, देव, विद्याधर आदि भी राम का वह अनोखा भाषण उत्सुकतापूर्वक सुन रहे थे। विद्वत्ता से भरपूर उस मधुर वाणी के प्रभाव से सबके हृदय में अपार आनन्द का अनुभव हुआ और धन्य २ और जय जयकार के साथ पुष्प-वृष्टि होने लगी।

उल्लास समाप्त होने पर महामुनि विश्वामित्र ने प्रेमभरी मीठी वाणी में राम को संबोधित करते हुये कहा कि हे राघव, तुम सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ हो। तुमसे कुछ भी छिपा नहीं है। अपनी सूक्ष्म वुद्धि से तुमने सब अवगत कर लिया है। तुम्हारे चित्त दर्पण की थोड़ी सी सफाई मात्र की अपेक्षा है। फिर भगवान् व्यासपुत्र शुक की तरह तुम भी विश्रान्ति पा सकोगे। इस प्रसंग में राम के प्रश्न पर व्यासदेव व शुकदेव का संवाद तथा शुकदेव का राजा जनक के पास जाकर उनसे संसाररुपी आडम्बर की शान्ति का का उपाय पूछना आदि वृत्तान्त सुनाया और यह निष्कर्ष बताया कि:—

ज्ञातज्ञेयस्य मनसो नूनमेतद्धि लक्षणम्।
न स्वदन्ते समग्राणि भोगवृन्दानि यत्पुनः॥
२-२-३

वासना तानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः।
पदार्थ वासना दार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते॥
२-२-५

भावार्थः— जिसने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है, उसकेमद का यही निश्चित लक्षण है कि उसको सपूर्ण भोग भले ही नहीं लगते।

हे राम ! विद्वान् लोग वासनाक्षय को 'मोक्ष' कहते हैं, और विषयों में वासना की दृढता को बन्ध कहते हैं अर्थात् जितनी ही विषय वासना क्षीण होती जायेगी उतना ही संसार के बन्ध से छुटकारा मिलता जायेगा। वासना के सर्वथा क्षीण होने पर सर्वतः मुक्ति हो जाती है।

अनन्तर विश्वामित्रजी ने महर्षि वसिष्ठ से प्रेमपूर्वक अनुरोध किया कि रघुकुल के गुरु होने के नाते आप ही राम को उपदेश दीजिये। पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने जो ज्ञान हम दोनों को दिया था उसकी याद दिलाई। नारद व्यास आदि मुनि मंडली के समर्थन करने पर महर्षि वसिष्ठ ने 'कः समर्थः समर्थोऽपि सतां लंघयितुं वचः' अर्थात् समर्थ होता हुआ भी सज्जन मनुष्यों के वचनों को उल्लंघन कौन कर सकता है।

कहकर उन राजकुमारों का अज्ञान दूर करने का वचन देते हुये इस श्रेष्ठ शास्त्र का आरम्भ कर दिया।

अब विचार करने की बात यह है कि आरम्भ में सुतीक्ष्ण का कहिये वा कारुण्य का कहिये मूल प्रश्न तो कर्म करना अथवा कर्म त्याग का ही रहा। राम की वही उलझन थी। ग्रन्थकार की इतनी लम्बी तो यह मात्र भूमिका सी ही है। इस प्रसंग में आगे भी अन्य सारी अवान्तर बातें और भिन्न-भिन्न विषयों के प्रश्नोत्तर इसलिए चलते हैं कि जीवन के प्रत्येक पहलू को ठीक से समझे बिना उचित निर्णय नहीं हो सकेगा। महर्षि वशिष्ठ को केवल मौखिक उत्तर देना था नहीं वस्तुतत्व को अच्छी तरह से हृदय में बैठा देना था। भगवान वशिष्ठ ने प्रसंगानुसार राम को अनेक तरह से समझाना शुरु किया। पुरुषार्थ से ही सब कुछ सम्भव होता है। जिसको जिस बात की लगन हो वह यदि ठीक से प्रयत्न करता रहे और बीच में छोड़कर न भाग जाय तो अपने लक्ष्य को अवश्यमेव प्राप्त करता है। पुरुषार्थ का ही सब

तरह से महत्व है। संसार में सारा खेल पुरुषार्थ का ही है इसके अनेक दृष्टान्त बताये। पूर्व में किये हुए पुरुषार्थ का ही नाम दैव है। शास्त्र सम्मत उचित रीति से किया हुआ पुरुषार्थ ही सफल होता है। उच्छास्त्रीय पुरुषार्थ तो अनर्थ की ही प्राप्ति कराता है। अतः विवेकपूर्वक पुरुषार्थ का ही आश्रय लेना चाहिये। दैव कुछ नहीं है।

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं च कामं च नाशयन्त्यात्म विद्विषः॥
२-७-३

अर्थः—जो लोग उद्यम का परित्याग कर दैव पर निर्भर रहते हैं, वे आत्मशत्रु, धर्म अर्थ, काम और मोक्ष को विनाश करते हैं।

वासना रूपी नदी को अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में प्रवाहित करना ही पुरुषार्थ है। मोक्ष धाम के चार दरवाजे हैं। शम, विचार, सन्तोष एवम् साधुसंगम। सदाचार की प्रशंसा। ज्ञान से सत्पुरुषाचरण की और सत्पुरुषाचरण से ज्ञान की वृद्धि होती है। दोनों का अभ्यास करना चाहिए। यह दिखाई देने वाला सम्पूर्ण जगत कल्पान्त में नष्ट होकर जो कुछ भी सत् तत्व बच रहता है उसका नाम रूप कुछ नहीं। सिर्फ व्यवहार के लिए ऋत, आत्मा, ब्रह्म, सत्य आदि संज्ञायें कल्पित की हुई हैं। वही फिर अपने आपको अन्य सा भासित होकर जीव संज्ञा को प्राप्त होता है वही आगे चलकर मन बनता है। उसी से इस सारे जगत का प्रसार होता है। दृश्य के कारण ही द्रष्टा बन्धन में पड़ा है। दृश्य के दूर होने पर मुक्त हो जाता है। यहाँ पर समाधि की अनुपयोगिता व जप तप ध्यान की भी अनुपादेयता की बात कहीः—

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः।
ज्ञानादेव परासिद्धिर्नत्वनुष्ठान दुःखतः॥
३-६-२

अथः—वसिष्ठजी बोले कि हे वत्स ! देवों के देव इस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है, कर्मानुष्ठान से उत्पन्न क्लेशों से इसकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

इस तत्व की प्राप्ति में पुरुषार्थ ही साधन है। वह पुरुषार्थ क्या है ? लोक व शास्त्र से निर्विरोध आजीविका से सन्तुष्ट रह-कर भोग वासना का त्याग करके बिना उद्विग्न हुए यथा सम्भव उद्योग करना एवं साधु संगम व सत् शास्त्र का अभ्यास करना ही पुरुषार्थ है।

देश में सज्जन पुरुष जिनको साधु मानते हैं वे ही साधु और अध्यात्म शास्त्र ही सत् शास्त्र कहे जाते है।

राम के प्रश्नों के समाधान में ब्रह्म का तात्विक रूप भिन्न-२ युक्तियों से समझाया और कहा कि यदि तुम कुछ दिन तत्पर होकर सुनते रहोगे बीच में ही उठ कर चल न दोगे तो सारा दृश्य जो दीर्घकाल से बद्धमूल होने से दीख रहा है मृग जल की तरह शान्त हो जायेगा। दृश्य के अभाव में देखना भी खत्म होकर केवल बोध मात्र अवशेष रह जायेगा। फिर मण्डप आख्यान सुनाया जिसमें लीला की लीलामयीं लम्बी मनोहर वार्ता के व्याज से संसार की उत्पत्ति स्थिति आदि सब मनोमय होने से अपने अपने संकल्पा-नुसार ही प्रतीत होती रहती है। ऐसा प्रतिपादन किया।

इस अख्यान की विविध ज्ञानदायिनी दृष्टियों को सुनकर राम को बहुत ही हर्ष हुआ। आगे कर्कटी राक्षसी की कथा, उसकी आतृप्ति और तपस्या से चित्त शुद्धि की बात कही। एन्दवोपाख्यान में दश भाई अपने मन के दृढ़ संकल्प से ब्रह्मा हो गये, उनकी दश सृष्टियां आपस में असंलग्न रह कर अलग अलग चलती है ऐसा कह कर बताया कि परमार्थ रूपिणी शुद्ध चित् ही भावना के कारण जीव होकर मन होती हुई व्यर्थ ही देहता का अनुभव करती है। अतः मन से ही पुरुषार्थ द्वारा अपने को शुभ मार्ग में लगाना चाहिये।

आगे प्रबल युक्तियों द्वारा तर्क, सांख्य, बोद्ध आदि मतों की त्रुटियों को दिखाते हुए शेष में यह सब ब्रह्म का ही विवर्त है यही तथ्य निष्पन्न हुआ ऐसा समझाते हैं। प्रसंगानुसार राम ने पूछाः-

महासत्व गुणोपेता ये धीराः समदृष्टयः।
अनिर्देश्य कलोपेता साधवस्त उदाहृताः॥
३-९५-१६

अर्थः—जो अत्यन्त विशुद्ध सत्वगुण से युक्त है, दुःखदायी विषयों से विचलित नहीं हो सकते, राग, द्वेष, आदि से रहित हैं एवं शब्द से जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, ऐसी निरतिशय आनन्द रूप ब्रह्म की साक्षात्कार कला से सम्पन्न हैं वे सन्त कहे गये हैं।

ऐसे महापुरुषों द्वारा रचे हुवे शास्त्रों से ही व्यवहार ज्ञान प्राप्त होता है जिस पर चल कर जन साधारण कल्याण को प्राप्त होते हैं। शास्त्रों में कर्म और कर्ता का कार्य कारण भाव बतलाया है। कर्त्ता व कर्म हेतु व फलरूप से एक दूसरे से संसृष्ट है। कर्त्ता से कर्म व कर्म से कर्त्ता की बीज व अंकुर की तरह सृष्टि होती है। ऐसी स्थिति में बिना निमित्तभूत कर्म के ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। राम की इस शंका का समाधान करते हुए महर्षि ने बताया कि सब व्यापार मानसिक है। जो जीव है वही मन है और जो मन है वही कर्म है। इनमें भेद नहीं है। जैसे पुष्प और सुगन्ध अभिन्न है वैसे ही कर्म व कर्ता भी अभिन्न है। परमात्मा के संकल्प से ही सब सिद्ध होता है। चित्तोपाख्यान सुनाया जहां एक व्यक्ति अपनी ही पीठ पर मुग्दर से प्रहार करता जाता है और खुद रोते चिल्लाते भागता भी जाता है। इसी तरह बहुत से दृष्टान्त दिये। महर्षि भृगु व काल भगवान का बड़ा ही रोचक तथा आंखे खोलने वाला संवाद है। राजा जनक का आत्म चिन्तन द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचाना कि कर्म करने से ही क्या

और न करने से ही क्या दोनों ही समान हैं तब यह शरीर क्यों नहीं अपने प्रकृत कर्म करता रहे। ऐसी अनेक तरह की भिन्न-भिन्न चर्चा के बाद फिर कहा कि:—

बहुनाऽत्र किमुक्तेन मनः कर्म द्रुमांकुरः।
तस्मिच्छिन्ने जगच्छाखी छिन्न कर्म तनुर्भवेत् ॥

[४-४-४]

इस विषय में बहुत कहने से क्या मतलब है, मनही कर्म रूपी वृक्षका अंकुर है। मन नष्ट होने पर भोक्ता के भोग्य भोगाकार में परिणित विहित और निषिद्ध कर्म रूप शरीर वाला जगत् रूपी वृक्ष कट जाता है। कर्म रूपी वृक्ष मनसे ही उत्पन्न होता है मन के उच्छेद से जगत के उद्‌गम का मूल कर्म भी उच्छिन्न हो जाता है। मन और जगत परस्पर संलग्न है पर जगत के नाश से मन का नाश नहीं होता। मन के नाश से दोनों का नाश हो जाता है। सारे ज्ञान का सार बतलाया—

श्रूयतां ज्ञान सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
भोगेच्छा मात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ॥

४-३५-३

अर्थ—ज्ञान का सर्वस्व सुनो और सुनकर धारण करो भोगेच्छा मात्र ही बन्धन है उसका त्याग ही मोक्ष कहा जाता है।

वासना व मन पर्यायवाची हैं। मन ही जीव है। इसके निग्रह से सफलता मिलती है। वासना का त्याग ही मुख्य है। मन को वश करने में अभ्यास की प्रधानता बताई। बिना अभ्यास के कुछ सफल नहीं होता। बारम्बार विचार करते रहना जरूरी है। विचार से ही भोगों के प्रति विरति होती है। वासना के दो रूप हैं। मलिन व शुद्ध। मलिन वासना को ही आसक्ति या संग कहते हैं। उसी का त्याग करना है। शुद्ध वासना हर्ष व विषाद से रहित

है। उसे असंग कहा जाता है उसके द्वारा होने वाले कर्म बन्धन कारी नहीं होते। अतः वासना क्षय, तत्वज्ञान प्राप्ति और मन का नाश इन तीनों का युगपत्—एक साथ अभ्यास करना आवश्यक है। और कहा कि यह सब चिन्मात्र है इतना समझ में बैठ जाय तो बेड़ा पार है नहीं तो यह सब कोरी बकवास ही है।

अन्तिम निर्णयः—

ज्ञप्तिमात्रात् ऋते शुद्धात् आदि मध्यान्त वर्जितात्
नान्यदस्तीति निर्णीतं महाचिन्मात्र रूपिणः ॥

—निर्वाण प्र० उ० ४२।९

भावार्थ— यह अच्छी तरह निर्णीत हो चुका है कि आदि मध्यान्त रहित महा चैतन्य स्वरूप ज्ञप्ति मात्र (शुद्ध ज्ञान) के अलावा यहां और कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार अनेक तरह से विशद तथ्यों से पूर्ण ज्ञान चर्चा से सन्तुष्ट व प्रबुद्ध हुये राम ने प्रश्न उठाया कि जब ज्ञानी पुरुष के लिये अहं ममादि सारा दृश्य समूह ही असद्रूप हो जाता है तब कर्मों के अनुष्ठान से क्या शुभ होता है व कर्मों के त्याग से ही क्या अशुभ होता है।

इस पर महर्षि वसिष्ट ने राम से ही प्रश्न किया कि पहले यह बताओ कि कर्म किसे कहते हैं? कर्मों का विस्तार कैसा है? तथा उसका मूल क्या है? तथा उसमें जो नाशनीय अंश है उसका भली भाँति नाश किस तरह होता है।

ऊपर कर्म, जीव, मन, वासना संग आदि को पर्यायवाची कह आये हैं। अतः जीव का चेतन अंश तो शास्वत है। उस पर काम कर्म वासना आदि के रूप में जो मलिनता आ गयी है वह उसका नाशनीय अंश है और उसी का समूल नाश करने की बात का उत्तर राम देते हैं:-

राम ने कहा, भगवान् नाशनीय अंश का ठीक नाश तभी होता है जब उसको मूल से ही उखाड़ कर फेंका जाय। डाल पात काटने से कोई लाभ नहीं होता। अतः धीमान को चाहिए अपने पुण्य पाप रूप कर्मों को जड़ से ही उखाड़ करे फेंक देवें। और यही सम्भव भी है। फिर श्रीवशिष्ठ के प्रश्नों का उत्तर विस्तार से देते हुवे कहा कि देह ही कर्मवृक्ष के रूप में उपस्थित है जो संसार रुपी घने वन में हाथ पांव आदि विचित्र लताओं से वेष्टित जवानी बुढ़ापा आदि पत्र पुष्पों से सज्जित व सुख दुःख रुपी फलों के भार से लदा हुआ है। इसकी मोटी जड़ें कर्मेन्द्रियां हैं जिनके द्वारा रस ग्रहण करके पुष्ट होता रहता है। कर्मेन्द्रियों के मूल में ज्ञानेन्द्रियां (सूक्ष्म जडें) हैं जो वासना कर्दम से सार ग्रहण कर वृक्ष को पुष्टि देती हैं। इसके भी मूल में मन है जिसके सहारे यह सब टिका हुआ है। इस मन का मूल (बीज) जीव है जो चिदाभास रूप है इन सब के मूल में ब्रह्म शुद्ध चैतन्य) है जिसका कोई मूल नहीं है वही सब का मूलाधार है।

हे मुनिवर्य, इस तरह यह चेतन ही सम्पूर्ण कर्मों का बींज कहा जाता है जिससे प्रकांड शाखाओं वाला मह विशाल देह वृक्ष उद्भूत होता है। यह चेतन अपने में ही संस्फूरित अहंभावना सेकर्म भाव को प्राप्त सा हो जाता है नहीं तो यह सदा परमपद रूप ही है।

इस प्रकार राम ने शरीर आदि में अहंरूपता की भावना को ही संसार में कर्मों का मूल कारण बताया। इस पर महर्षि वशिष्ठ ने कहा कि हे राघव ! इसलिए जब तक देह रुप उपाधि उपस्थित है तब तक कर्म का त्याग क्या व अनुष्ठान ही क्या हो सकता है क्योंकि चाहे प्रवुद्ध हो या अप्रबुद्ध हो देह रहते जीव का चित्त रहेगा ही। अतः यथाप्राप्त सब व्यवहारों को करते समय भी असंग, अद्वितीय, चिन्मात्र स्वरूप, मैं कुछ भी नहीं करता' इस

निष्कर्ष आत्मस्वभाव की स्थिति से कर्म शब्द की भावना उत्पन्न न होने पर यत्न के बिना भी कर्म और अकर्म का विकल्प छूट जाने से यह कर्म त्याग स्वयम् ही हो जाता है। इसलिये दूसरी तरह से कर्म त्याग का सम्भव न होने पर जो जो केवल अपने शरीर से कर्त्तव्यता त्याग करता है उसने कुछ भी नहीं किया यह समझना चाहिये। अतः जब तक शरीर है कर्मों का त्याग नहीं हो सकता अपने कर्म का मूल वासनात्मक मानसिक संवित ही है। उसका उच्छेद जब तक शरीर है तब तक ज्ञान के बिना नहीं हो सकता जब शुद्ध आत्म दृष्टि के विचार से यह चिदाभास रूपा संवित अपने मूल अज्ञान के साथ हट जाती है तब तत्त्व ज्ञान होने से इस संसार रूपी वृक्ष का अपने आप उच्छेद हो जाता है। इसके लिए पृथक प्रयत्न की कोई जरूरत नहीं रहती। मोक्ष भी स्वयम् सिद्ध ही है। देखो गीता अध्याय ५/८-९। इसी उपदेश को अन्य विभिन्न युक्तियों द्वारा बारबार समझाया है। अन्त में राम की आरम्भ में जीवन के प्रति जो खिन्नता उत्पन्न हुई थी वह दूर हो कर वे अपने प्रकृत व्यवहार में लगने को आनन्द से तत्पर हो जाते हैं। महाराज दशरथ की उस बृहत सभा में व आगन्तुक कवि महर्षि आदि सिद्ध मण्डली में बहुत ही उल्लास व आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ता है। सब महर्षि वसिष्ठ की मुक्त कठ से प्रशंसा करते हुए आभार मानते हैं।

इस संवाद के सुनने से भरद्वाज मुनि का समाधान होता है। राजा अरिष्ठनेमी को ज्ञान प्राप्ति होती है। सुरुचि की भी उत्सुकता शान्त होती है। कारुण्य की कर्मों के प्रति जो उदासीनता थी वह जाती रहती है। महर्षि अगस्ति की कथा समाप्ति के पहले ही उनके शिष्य सुतीक्ष्ण का संसय समाप्त हो चुका था। परन्तु इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के इतने दीर्घकाल से प्रसारित होते हुए भी हम साधारण जनों की शंकायें ज्यों की त्यों वर्तमान हैं। क्यों कि

महानुभाव जगद्गुरुओं की वाणी को हम यथार्थ भाव से ग्रह
करने में समर्थ नहीं हो पाते। उनके कथन मूल में एक होते हु
भी भिन्न-भिन्न धरातलों से कहे हुए होते हैं। अतः हमारी छो
बुद्धि में उनका सामंजस्य नहीं हो पाता और वह और भी अधि
उलझन में पड़ जाती है। मेरी तुच्छ समझ तो ऐसी है कि यो
वासिष्ठ के मनन से यह उलझन मिट सकती है। उक्त ग्रन्थ
पठन से मैंने जैसा कुछ समझा कहने का प्रयास किया है। अ
में अपनी नासमझी और औद्धत्य के लिये क्षमा चाहता हूँ।

चयनकर्ता

नर्वदाप्रसाद लाठ

श्रीगणेशाय नमः

योगवासिष्ठसारः

अथ वैराग्यप्रकरणम्

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥१।१।१॥

जिस अद्वितीय परमार्थ सत्य वस्तु की सत्ता (अस्तित्व) से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं एवं जिसकी सत्ता में स्थित हैं और अन्त में जिस सत्ता में ही लीन हो जाते हैं, एवंभूत समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप सत्यात्मा=परमात्मा को नमस्कार है।

नमस्कारस्वरूप मंगलाचरण से "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रत्यभियन्ति तद्ब्रह्म" इस मन्त्र से प्रतिपादित परमात्मा के तटस्थ लक्षण का वर्णन किया गया।

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः ॥१।१।२॥

जिस परमात्मा से ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, कर्ता-हेतु और क्रिया—ये सब व्यावहारिक पदार्थ प्रकट होते हैं उस ज्ञानरूप से स्थित प्रत्यगात्मा को नमस्कार है।

प्रथम श्लोक में 'प्रतिभान्ति' इस पद से सत्यस्वरूप चिदेकरस तत्पदवाच्य परमात्मा का वर्णन करके उसी को द्वितीय

श्लोक से त्वंपदवाच्य जीव रूप में प्रत्यगात्म रूप से नमस्कार किया गया है।

इसका भाव यह है कि तत्पदवाच्य ईश्वर और त्वंपद-वाच्य जीव को भागत्याग-लक्षणा से अभेद-प्रतिपादन द्वारा ब्रह्मात्मैकत्वरूप विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसी से विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन रूप अनुबन्धचतुष्टय का भी वर्णन जानना चाहिये।

स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याऽम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥१।१।३॥

जिस आनन्द से स्वर्ग और पृथ्वी में समस्त चेतनाचेतन जीवों में आनन्द-कणों का अनुभव होता है, उस परम पुरुषार्थभूत ब्रह्मानन्द को नमस्कार है।

सुतीक्ष्णो ब्राह्मणः कश्चित् संशयाकृष्टमानसः।
अगस्तेराश्रमं गत्वा मुनिं पप्रच्छ सादरम् ॥१।१।४॥

सुतीक्ष्ण नाम के ब्राह्मण का हृदय अनेक प्रकार के संदेहों से खिच गया और उसने अगस्त मुनि के आश्रम में जाकर आदरपूर्वक प्रश्न किया ॥४॥

मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्षसाधनम्।
उभयं वा विनिश्चित्य एकं कथय कारणम् ॥१।१।६॥

मोक्ष-प्राप्ति का साधन कर्म है अथवा ज्ञान, अथवा दोनों इसमें एक पक्ष निश्चय करके कहिये।

अगस्तिरुवाच

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥१।१।७॥

जैसे पक्षी दो परों–पखों से आकाश में उड़ते हैं वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनों से परम पद की प्राप्ति होती है ॥७॥

इसी प्रश्न का महर्षि वाल्मीकि ने परमात्मा को नमस्कार करके भरद्वाज से इस प्रकार से उत्तर दिया—

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्यास्ति निश्चयः ।
नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान् ॥१।२।२॥

जो अत्यन्त अज्ञानी नहीं है और अत्यन्त ज्ञानी भी नहीं है, किन्तु 'मैं इस संसाररूप कारागार में बद्ध हूँ इससे मुझे छूटना चाहिये" ऐसा विवेक करनेवाला इस मोक्ष-शास्त्र का अधिकारी है ।

इस प्रकार अधिकारी का वर्णन करके भारद्वाज मुनि से संक्षेप में मुक्ति का लक्षण और स्वरूप दिखलाते हुए वाल्मीकि ने कहा—

भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥१।३।२॥

हे भरद्वाज ! जैसे भ्रमवश रूपरहित आकाश में नील वर्ण का आभास होता है, उसी प्रकार अज्ञानवश ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है । आकाश में वर्णों के समान

ब्रह्म में अविद्या से कल्पित संसार का विद्या के द्वारा विस्मरण हो जाना यही मुक्ति का लक्षण है।

दृश्यात्यन्ताभावबोधं विना तन्नानुभूयते।
कदाचित्केनचिन्नाम स्वबोधोऽन्विष्यतामतः ॥१।३।३॥

दृश्य जगत् के अत्यन्ताभाव का ज्ञान जब तक नहीं होता अर्थात् "समस्त विश्वप्रपञ्च अविद्या से कल्पित है, अतः मिथ्या है" यह ज्ञान दृढ़ नहीं होता, तब तक कोई भी किसी प्रकार से भी मुक्ति का लक्षण और स्वरूप जानने में समर्थ नहीं होता है तथा समस्त जगत् के अधिष्ठान रूप प्रत्यगभिन्न आत्मा का जब तक दृढ़ बोध नहीं होता तब तक दृश्य प्रपञ्च का बोध नहीं होता।

अशेषेण परित्यागे वासनानां य उत्तमः।
मोक्ष इत्युच्यते ब्रह्मन् स एव विमलक्रमः ॥१।३।८॥

हे ब्रह्मन्! अशेष वासनाओं का त्याग करना ही उत्तम मोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष अविद्यारूप मल से रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकता है।

क्षीणायां वासनायां तु चेतो गलति सत्वरम्।
क्षीणायां शीतसंतत्यां ब्रह्मन् हिमकरो यथा ॥१।३।६॥

हे ब्रह्मन्! जैसे शीत के नष्ट होने पर हिमकण स्वतः नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही वासना के नष्ट होने पर संसार का कारण चित्त अपने आप नष्ट हो जाता है।

अयं वासनया देहो ध्रियते भूतपञ्जरः ।
तनुनान्तर्निविष्टेन मुक्तौघस्तन्तुना यथा ॥१।३।१०॥

जैसे पतले तथा अन्तःप्रविष्ट धागे में गुँथा हुआ मोतियों का समूह टिका रहता है, वैसे ही पंचभूतों से बना हुआ शरीर सूक्ष्म वासना से ही स्थिर (टिका) है।

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्मनो हेतुः शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥१।३।११॥

वासना दो प्रकार की है शुद्ध और मलिन, मलिन जन्म का कारण है, और शुद्ध वासना जन्म-मरण से छुटाने वाली है।

अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥१।३।१२॥

अज्ञानरूपी घनाकारता से जीव अहं अहं करता है। इसीलिए मलिन वासना ही पुनर्जन्म का कारण है। ऐसा पंडितजन कहते हैं।

पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थित्वा संमृष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेयशुद्धेति चोच्यते ॥१।३।१३॥

पुनर्जन्म का कारण अविद्यारूप वासना के नष्ट होने पर प्रारब्ध से यह शरीर टिका रहता है। जैसे भूने हुए बीज से अंकुर नहीं ज़मते उसी तरह अविद्यारूप वासना के दूर होने

पर देह धारण मात्र रहता है। इस अवस्था को 'ज्ञातज्ञेयशुद्धा' कहा जाता है।

अपुनर्जन्मकारिणी जीवन्मुक्तेषु देहिषु।
वासना विद्यते शुद्धा देहे चक्र इव भ्रमः ॥१।३।१४॥

जीवन्मुक्त पुरुषों के शरीर में पुनर्जन्म को रोकनेवाली शुद्धा वासना रहती है। जैसे चक्र वेग से घूमता है उसी प्रकार प्रारब्धवशात् जीवन्मुक्त का शरीर घूमता है।

ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभाजनम्।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥१।३।१५॥

जो शुद्ध वासनावाले हैं वे पुनः जन्म-मरणरूपी अनर्थ में नहीं पड़ते; ऐसे जीवन्मुक्त महाबुद्धिमान् 'ज्ञातज्ञेय' कहे जाते हैं।

श्रीराम उवाच

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंन्ततिः।
जायते म्रियते लोको म्रियते जननाय च ॥१।१२।७॥

इस संसार की परम्परा में सुख नाम की क्या वस्तु है जिसके लिए लोग जन्मते और मरते हैं तथा पुनर्जन्म लेने के लिए मरते हैं।

अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः।
आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः ॥१।१२।१०८॥

जितने चराचर प्राणी हैं। (चेष्टा करनेवाले चर और चेष्टारहित अचर कहे जाते हैं) सभी अस्थिर हैं। पाप ही

आपत्ति के पोषक हैं। जितने ऐश्वर्य हैं वे सब आपत्ति के स्थान हैं।

न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः।
वत मूढाः वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् ॥१।१२।१२॥

किसी से हम लोग बेचे नहीं गये हैं, किन्तु बेचे हुए के समान परवश होकर स्थित हैं। खेद है कि हम लोग माया को जानते हुए भी उससे बचने में मूढ़ हैं।

न श्रीः सुखाय भगवन् दुःखायैव हि वर्द्धते।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥१।१३।१०॥

हे भगवन्! सम्पत्ति की वृद्धि दुःख का ही कारण होती है सुख के लिए नहीं। जैसे रक्षा की हुई विषलता मृत्यु का कारण होती है, वैसे ही यह रक्षित होने पर भी मृत्यु का कारण होती है।

श्रीमानजननिन्द्यश्च शूरश्चाप्यविकत्थनः।
समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः ॥१।१३।११॥

ये तीनों प्रकार के पुरुष दुर्लभ हैं। जो श्रीमान् हो किन्तु निन्द्य न हो, शूर हो किन्तु आत्मश्लाघी न हो, स्वामी हो किन्तु सबको समानरूप से देखे।

मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं कदर्थसाध्या क्षणभङ्गुरा च।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मीः ॥१३॥

लक्ष्मी मनोहर है, चित्त को आकर्षण करती है, साहस

से प्राप्त होती हैं, बिजली के समान क्षणभर में नष्ट हो जाती हैं और सर्पों से लिपटी हुई गड्ढे में उत्पन्न पुष्पलता के समान हैं।

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम्।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् ॥१।१४।१॥

जीव की आयु पत्ते के कोण में लटके हुए जल-कण के सदृश अस्थिर है, जो उन्मत्त पुरुष के समान असमय में ही शरीर को छोड़ कर चली जाती है।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥१।१४।१॥

संसार में वृक्ष भी जीते हैं और मृग-पक्षी भी जीते हैं, किन्तु जीना उसी का सफल होता है जिसका मन तत्त्वज्ञान के मनन में लगा रहता है।

जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनः नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १।१४।१॥

संसार में उन जीवों का ही उत्पन्न होना सफल हैं और उनका ही साधु जीवन है जो पुनर्जन्म नहीं लेते। शेष लोग तो पुराने गधे हैं।

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥१।१४।१३॥

देह में आत्मबुद्धि करनेवाले अविवेकियों के लिए

शास्त्रज्ञान भार हैं, विषयानुरागी के लिए तत्त्वज्ञान भार है, अशान्त पुरुष के लिए मन भार है और अनात्मज्ञ के लिए देह भार है।

अहङ्कारवशादापदहङ्काराद् दुराधयः।
अहङ्कारवशादीहा त्वहङ्कारो ममामयः ॥१।१५।३॥

अहङ्कार से ही अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट होते हैं, अहङ्कार से ही मानसिक क्लेश होते हैं, अहङ्कार से ही नाना प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं और अहङ्कार ही मेरा भयङ्कर रोग है।

चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्ता निचयचञ्चुरम्।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी यथा ॥१।१६।१०॥

पिंजरें में बँधा हुआ सिंह जैसे एकत्र स्थिर नहीं रहता है, वैसे ही नाना प्रकार की चिन्ताओं से अति चञ्चल वृत्तिवाला मन धैर्य को नहीं प्राप्त होता है।

चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥१।१६।२२॥

जैसे पक्षी मांस के लिए दौड़ते हैं, वैसे ही मन अपने विषयों में दौड़ता है और विषयों को प्राप्त कर क्षणभर में वैसे ही विरत हो जाता है—जैसे लड़के खिलौने के प्रति लालायित रहते हैं और प्राप्त होने पर छोड़ देते हैं।

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥१।१६।२५॥

सब पदार्थों को चाहनेवाला मन ही है। मन के रहने पर तीनों लोक हैं। मन के लय होने से जगत् क्षीण हो जाता है। इसीलिए यत्नपूर्वक मन की चिकित्सा (निरोध) करना चाहिए।

कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी ।
दशत्यपि मनाक् स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥१।१७।१७॥

तृष्णा अत्यन्त कुटिला है। उसका स्पर्श अत्यन्त कोमल होता है, वैषम्य-विष से युक्त है। थोड़ा स्पर्श होते ही काली सर्पिणी के समान डँस लेती है अर्थात् मोह में डाल देती है।

जरा कुसुमितारूढा पातोत्पातफलावलिः ।
संसारजङ्गले दीर्घे तृष्णा विषलता तता ॥१।१७।२४॥

संसाररूपी विशाल जङ्गल में तृष्णारूपी विषलता फैली है, उसमें जरा-मरण आदि पुष्प खिले हैं और वह उत्पात-रूपी फलों से युक्त है अर्थात् सारा उत्पात तृष्णा से ही होता है।

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभस्तलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥१।१७।३१॥

हृदयरूपी कमल में भ्रमरी के समान रहनेवाली तृष्णा क्षणभर में पाताल चली जाती है, क्षणभर में आकाश में

जाती है और क्षणभर में दिशारूपी कुञ्जों में घूमने लगती है।

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥१।१७।३२॥

संसार में जितने भी दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही महान् दुःख देनेवाली है। जो अन्तःपुर में रहनेवाले को भी भयङ्कर संकट में डाल देती है।

एकैव सर्वभुवनान्तरलब्धलक्ष्या
दुर्लक्ष्यतामुपगतैव वपुःस्थितैव।
तृष्णा स्थिता जगति चञ्चलवीचिमाले
क्षीरोदकाम्बुतरले मधुरेव शक्तिः ॥१।१७।५२॥

अकेले ही जिसने समस्तजगत् को लक्ष्य बनाया है और देह में रहते हुए भी जो दुर्लक्ष्य है अर्थात् जिसे कोई देख नहीं पाता, वह तृष्णा जगत् में वैसे ही स्थित है—जैसे चञ्चल लहरियों की मालावाले क्षीर उदक और अम्बु से तरल जल में मधुर शक्ति। अभिप्राय यह है कि जैसे जल में रहनेवाली एक ही मधुर शक्ति क्षीर, उदक, अम्बु, अनेक शब्द और अर्थों से तिक्त, लवण, कटु, कषाय आदि भेदों में रसना से गृहीत होती है। उसी प्रकार एक ही तृष्णा इस शरीर में रहती हुई नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों को चाहती हुई व्यवहार में दुर्लक्ष्य-सी प्रतीत होती है। यही

तृष्णा आशा काम लोभ आदि स्वरूप धारण करती रहती है।

किं श्रिया किं च राज्येन किं कायेन किमीहितैः।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥१।१८।३७॥

श्री-राजलक्ष्मी से क्या, राज्य से क्या, शरीर से भी क्या, और नाना प्रकार के मनोरथों से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि थोड़े ही दिनों में काल सबको नष्ट कर देता है। अतः नाशवान् पदार्थों से क्या प्रयोजन है।

दिनैः कतिपयैरेव निर्झराम्बुकणो यथा।
पतत्ययमयत्नेन जरठः कायपल्लवः ॥१।१८।५८॥

कुछ दिन में यह पुराना शरीररूपी पल्लव झरने के जल-कणों के समान अपने आप बिना यत्न के गिर पड़ेगा अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

शैशवे गुरुतो भीतिः मातृतः पितृतस्तथा।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥१।१९।३०॥

बाल्यावस्था में गुरु से, माता से, पिता से और अन्य बड़े जनों से भय बना रहता है। अतः शैशवावस्था को भय का मन्दिर कहा जाता है।

आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम्।
वेश्यास्त्रीसंगमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥१।२०।१३॥

यह यौवन वेश्या के समागम के सदृश आपातमात्र

रमणीय और सद्भाव से रहित होने के कारण मुझे रुचता नहीं है।

कान्तावियोगजातेन हृदि दुःस्पर्शवह्निना।
यौवने दह्यते जन्तुस्तरुर्दावाग्निना यथा ॥१।२०।१७॥

जैसे वनाग्नि से वृक्ष जलता है वैसे ही युवावस्था में हृदय में रहने से जिसका स्पर्श नहीं होता उस प्रियतमा के वियोग से जन्य शोकरूपी अग्नि से जीव जलता है।

यदा यदा परां कोटिमध्यारोहति यौवनम्।
वल्गन्ति सज्वराः कामास्तदा नाशाय केवलम् ॥१।२०।३६॥

जैसे-जैसे युवावस्था चरम सीमा को प्राप्त होती है वैसे-वैसे केवल विनाश करनेवाली सन्तापयुक्त कामनाएँ भी बढ़ती रहती हैं।

विनयभूषितमार्यजनास्पदं करुणयोज्ज्वलमावलितं गुणैः।
इह हि दुर्लभमङ्ग सुयौवनं जगति काननमम्बरगं यथा॥१।२०।४३॥

हे ब्रह्मन्! जैसे आकाश में कानन (वन) दुर्लभ है वैसे ही इस जगत् में विनययुक्त दया से परिपूर्ण, शम-दमादि (साधन) गुणों के सहित, आर्यजनों से मान्य उत्तम यौवन दुर्लभ है।

आपातरमणीयत्वं कल्प्यते केवलं स्त्रियाः।
मन्ये तदपि नास्त्यत्र मुने मोहैककारणम् ॥१।२१।८॥

हे मुनिजी ! जो स्त्रियों में आपात रमणीयता की कल्पना है, वह अविचार से केवल मोह के ही कारण है। मैं तो नारी में रमणीयता का लेशमात्र भी नहीं देखता हूँ।

ललनालानसंलीना मुने मानवदन्तिनः ।
प्रबोधं नाधिगच्छन्ति दृढैरपि शमाङ्कुशैः ॥१।२०।१८॥

हे मुने ! स्त्रीरूपी आलान से बँधा हुआ मानवरूपी मतवाला हाथी शमदमादिरूप दृढ अंकुश से भी प्रबोध (विवेक) को प्राप्त नहीं होता अर्थात् स्त्रियों के बन्धन से नहीं छूटता है।

नानारसवती चित्रा भोगभूमिरियं मुने ।
स्त्रियमाश्रित्य संयाता परामिह हि संस्थितिम् ॥१।२१।२२॥

हे मुने ! विविध प्रकार के रसों से पूर्ण भोग की विचित्र-भूमि यह पृथ्वी स्त्रियों के ही सहारे दृढ़ स्थित है।

शोच्यतां परमां याति तरुणस्तरुणीपरः ।
निबद्धः करणीलोलो विन्ध्यखाते यथा गजः ॥१।२१।३४॥

हे मुने ! जैसे हथिनी के लोभ में पड़ा हुआ हाथी विन्ध्यवन के गढ्ढे में गिर जाता है, वैसे ही तरुणी के पीछे तरुण (युवा) पुरुष भी परम शोचनीय अवस्था को प्राप्त होता है।

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥१।२१।३५॥

हे मुने ! जिसके स्त्री है उसी को भोग की इच्छा होती

जिसके स्त्री नहीं है उसको भोग की इच्छा कहाँ है। स्त्री को जिसने त्याग दिया, उसने सारे भोगों को त्याग दिया और वह समस्त भोगों को त्याग करके सुखी हो जाता है।

अपर्याप्तं हि बालत्वं बलात् पिबति यौवनम्।
यौवनं च जरा पश्चात् पश्य कर्कशतां मिथः ॥१।२२।१॥

जैसे बाल्यावस्था में खेलकूद पूरा नहीं होता, बलात् युवावस्था आ जाती है, वैसे ही युवावस्था में भी भोग पूरे नहीं हो पाते, बलात् वृद्धावस्था आ जाती है। परस्पर में इसकी इस कर्कशता (लूटपाट) को तो देखो।

शिथिलं दीर्णसर्वाङ्गं जराजीर्णकलेवरम्।
समं पश्यति कामिन्यः पुरुषं करभं यथा ॥१।२२।४॥

जिनके अङ्ग शिथिल हो गये हैं, सर्वाङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं और जरा से जिनका शरीर जीर्ण हो गया है, ऐसे पुरुष को कामिनी स्त्रियाँ ऊँट के समान देखती हैं।

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवः सुहृदस्तथा।
हसन्ति उन्मत्तकमिव नरं वार्द्धककम्पितम् ॥१।२२।६॥

वृद्धावस्था से काँपते हुए मनुष्य को दास, पुत्र, स्त्रियाँ, बन्धु-बान्धव और सुहृद् उन्मत्त के समान हँसते हैं।

कथं कदा मे किमिव स्वादु स्यात् भोजनं जनात्।
इत्यजस्रं जरा चैषा चेतो दहति वार्द्धके ॥१।२२।११॥

अपने जनों (सगे सम्बन्धियों) से कैसे कब कुछ स्वादिष्ट भोजन मिल जाय यह दूसरी ही चिन्तारूपी जरा वृद्धावस्था में चित्त को निरन्तर जलाती रहती है।

जरा कर्पूरधवलं देहकर्पूरपादपम्।
मुने मरणमातङ्गो नूनमुद्धरति क्षणात् ॥१।२२।२६॥

जैसे कपूर को उत्पन्न करने वाले केले के वृक्ष को हाथी उखाड़ कर क्षण भर में फेंक देता है, उसी प्रकार हे मुने ! वृद्धावस्थारूपी कपूर से उज्ज्वल देह को मृत्यु रूपी हाथी क्षण भर में उखाड़ कर फेंक देता है।

ये रम्या ये शुभारम्भा सुमेरुगुरवोऽपि ये।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥१।२३।६॥

जो अत्यन्त रम्य हैं एवं जो पुण्यात्मा हैं और जो सुमेरु पर्वत के समान गौरवान्वित हैं, काल उनको भी वैसे ही निगल जाता है जैसे साँप को गरुड़।

निर्दयः कठिनः क्रूरः कर्कशः कृपणोऽधमः।
न तदस्ति यदद्यापि न कालो निगिरत्ययम् ॥१।२३।६॥

जो अत्यन्त निर्दय है, कठिन एवं क्रूर है तथा जो कर्कश जो कृपण है, उनको भी काल निगल जाता है। आजतक ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गयी जिसको काल ने न निगला हो।

कालोऽयं भूतमशकः घुंघुमानां प्रपातिनाम्।
ब्रह्माण्डोदुम्बरौघानां बृहत्पादपतां गतः ॥१।२३।२७॥

यह काल ही घूँम घूँम शब्द करने वाले मच्छर के समान प्राणी एवं अत्यन्त शीघ्र गिरने वाले ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के वृक्ष के समान है।

क्रियामात्रादृते यस्य स्वपरिस्पन्दरूपिणः।
नाऽन्यदालक्ष्यते रूपं न कर्म न समीहितम् ॥१।२५।२॥
तेनेऽयमखिला भूतसन्ततिः परिपेलवा।
तापेन हिममालेव नीता विधुरतां भृशम् ॥१।२५।३॥

परिस्पन्द स्वरूप जो यह काल है जिसका क्रियामात्र से भिन्न कोई रूप लक्षित नहीं होता, न कोई दूसरी चेष्टा दिखाई देती है। वहीं इन सब प्राणियों को नष्ट करता रहता है। जैसे सूर्य का प्रखर ताप बर्फ को पिघलाकर नष्ट करता है। अर्थात् समस्त अनर्थों का मूल यह कर्म ही है।

नृत्यतो हि 'कृतान्तस्य' नितान्तमिव रागिणः।'
नित्यं 'नियतिकान्तायां' मुने 'परमकामिता' ॥१।२५।३॥

हे मुने संसार, में अत्यन्त रागी की भाँति नृत्य करते हुए इस कृतान्त (काल) की नियति रूपी कान्ता (भार्या) में अत्यन्त राग है। अतः कर्मों का फल अवश्य देता है।

भूयः करोति भुवनानि वनान्तराणि,
लोकान्तराणि जनजालककल्पनां च।
अचारचारुकलनामचलां चलां च,
पङ्काद्यथाऽर्भकजनो रचनामखिन्नः ॥१।२५।३२॥

जैसे लड़के प्रसन्नता पूर्वक एवं आलस रहित होकर पङ्क-(गीली मिट्टी) से नाना प्रकार के खिलौने बनाकर उसको थोड़ी देर में नष्ट कर देते और पुनः बनाते हैं। वैसे ही यह काल भी भुवनों को, बनों को, असंख्य जीवों को और उनके सुन्दर आचार-बिचारों को बार-बार रचना करता रहता है और नष्ट करता रहता है।

विक्रीता इव तिष्ठाम एतैर्दैवादिभिर्वयम्।
मुने प्रपञ्चरचनैः मुग्धाः वनमृगा इव ॥१।२६।२॥

हे मुने हम लोग दैव (जन्मान्तर के कर्मों) से रचित प्रपञ्चों से मधुर शब्दों से हरिण की भाँति मोहित होकर विक्रीत (बिके जैसे) हो गये हैं।

शत्रवश्चेन्द्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम्।
प्रहरत्यात्मनैवाऽऽत्मा मनसैव मनो रिपुः ॥१।१।२६।११॥

इन्द्रियाँ हो अपनी शत्रु हैं। इसी से सत्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म असत्य के समान प्रतीत होता है। मन ही मन का शत्रु है जो अपने आपको ही प्रहार करता रहता है।

अर्थात् मन द्वारा संसार के विषय का चिन्तन करना हो अपने स्वरूप का भुलाना है। यही मन से आत्मा पर प्रहार करना है।

धीरताऽधीरतामेति पातोत्पातपरो जनः।
सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सत्समागमः ॥१।२६।२१॥
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी।
नीयते केवलं क्वाऽपि नित्यं भूतपरम्परा ॥१।२६।२२॥

धीरता अधीरता को प्राप्त हो जाती है। जो जीव है पातोत्पात (ऊपर और नीचे देवादि अथवा तिर्यग् आदि योनियों) में ही आने जाने में लगा है। दुर्जनों का सङ्ग सुलभ है और सत्समागम दुर्लभ है। सब पदार्थ आगमापायी (उत्पत्ति विनाश वाले) हैं। वासना ही संसार में बाँधने वाली है। यह काल समस्त भूतों (प्राणियों) को न जाने कहाँ ले जायगा।

अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा,
ते बन्धवः सुखमिदं सविशेषभोगम्।
इत्थं मुधैव कलयन् सुविकल्पजाल-
मालोलपेलवमतिर्गलतीह लोकः ॥६।२६।४६॥

इस संसार में जो जीव है वे 'आज उत्सव है, आज सुन्दर ऋतु है, सुहावना समय है, आज सुन्दर यात्रा हो सकती है, यह हमारे सब बन्धु (भाई) है, ये सब बड़े सुखी सम्पन्न हैं अर्थात् भोग विशिष्ट साधनों से युक्त है' इस प्रकार

का संकल्प विकल्प करते हुए व्यर्थ ही नष्ट होते हैं। इसमें कोई सुख नहीं है।

बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले।
मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे।
शरीरके जर्जरतां प्रायते।
विदूयते केवलमेव लोकः ॥१।२७।२॥

बाल्यावस्था तो नाना प्रकार के कल्पित खेलों में बीत जाती है। यौवन रूपी मनोमृग स्त्रीरूपी गुफा में जीर्ण हो जाता है। वृद्धावस्था में शरीर जर्जर हो जाता है। ये संसारी जीव केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं। कहीं शान्ति का श्लेष नहीं है।

तृष्णानदी सारतरप्रवाह-
ग्रस्ताखिलाऽनन्तपदार्थजाता:।
तटस्थसन्तोषसुवृक्षमूल-
निकाषदक्षा वहतीह लोके ॥१।२७।५॥

यह तृष्णा रूपी नदी निरन्तर अपने प्रबल वेग से बहती हुई संसार के अनन्त पदार्थों को निगलती रहती है। एवं सन्तोषरूपी तट के वृक्षों के मूल को उखाड़ने में बड़ी चतुरा है।

अर्थात् अनन्त पदार्थों के प्राप्त होने पर भी तृष्णा तृप्त नहीं होती है।

तृष्णालताकाननचारिणोऽमी
शाखाशतं काममहीरुहेषु।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालम्
मनोमृगाणां फलमाप्नुवन्ति ॥१।२७।७॥

तृष्णारूपी लता के वनमें विचरने वाले कामरूपी विशाल-वृक्ष की अनन्त शाखाओं पर घूमते हुए काल विताते हैं। यह मनरूपी बन्दर फल की इच्छा से उस वृक्ष पर निरन्तर भ्रमण करता रहता है। किन्तु कुछ फल नहीं प्राप्त करता है।

तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गम्,
रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः।
शूरास्त एव मनस्तरङ्गम्,
देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति ॥१।२७।६॥

जो लोग हाँथी के समूहरूपी तरङ्ग वाले रणरूपी समुद्र में तैरते हैं वे मेरी दृष्टि में शूर नहीं हैं किन्तु मनरूपी तरङ्ग-वाले देह-इन्द्रियरूपी समुद्र में (विवेक वैराग्य आदि से) जो तैरते है वे ही शूर है।

कीर्त्या जगद्दिक्कुहरं प्रतापैः,
श्रिया गृहं सत्त्वबलेन लक्ष्मीम् ।
ये पूरयन्त्यक्षतधैर्यबन्धा,
न ते जगत्यां सुलभा महान्तः ॥१।२७।११॥

जो महापुरुष कीर्ति से जगत को पूर्ण करता है, प्रतापों से दिशाओं को पूर्ण करता है। सम्पत्ति से याचकों का घर भरता है। सत्त्व (क्षमा विनय दया उदारता आदि गुणों) से लक्ष्मी को पूर्ण करता है। ऐसे कभी नष्ट नहीं होने वाले महान पुरुष संसार में सुलभ नहीं है।

कामार्थधर्माप्तिकृतान्तराभिः
क्रियाभिरादौ दिवसानि नीत्वा
चेतश्चलद्बर्हिशिखिपिच्छलोलम्
विश्रान्तिमागच्छतु केन पुंसः ॥१।२७।१५॥

मनुष्य जीवन के आरम्भ में भोग की तृष्णा से काम और अर्थ के व्यापार से ही काल को बिता देता है। वृद्धावस्था आने पर मयूर के पंख के समान चञ्चल मन किस कर्म से शान्ति प्राप्त हो अर्थात् विश्रान्ति प्राप्त करने के योग्य कर्म तो उसने किया ही नहीं फिर शान्ति कैसे मिले।

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां
समेत्य जन्माऽऽशु लयं प्रयान्ति

तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः
समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥१।१२।२७॥

जैसे वृक्षों के पत्ते उत्पन्न होते और थोड़े ही दिनों में जीर्ण होकर नष्ट हो जाते हैं उसी तरह से स्वविवेक हीनाः (आत्म तत्त्व के विवेक से रहित) पुरुष भी थोड़े दिनों में कहीं चले जाते हैं। अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वम्
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ॥१।२७।३१॥

वह कौन सी दृष्टि है जिसमें दोष नहीं है। वह कौन सी दिशाएँ (स्थान) है जहाँ दुःख दाह नहीं है। ऐसी कौन सी प्रजा है जो नाशवान नहीं है। ऐसी कौन सी क्रिया है जिसमें छल नहीं है। अर्थात् सभी दृष्टि दोषयुक्त ही है, सभी दिशाएँ दुःख से पूर्ण है; सभी लोग विनाशी है और सभी कार्य छल कपट से युक्त ही है।

कल्पाभिधानक्षणजीविनो हि
कल्पौघसंख्याकलने विरञ्च्याः।
अतः कलाशालिनि कालजाले
लघुत्वदीर्घत्वधियोऽप्यसत्याः ॥१।२७।३२॥

जैसे कल्प भी अनन्त है। उसी तरह क्षण भी अनन्त है। क्षण और कल्प की कल्पना मिथ्या ही है। उसी तरह से लघुत्व और दीर्घत्व की कल्पना भी मिथ्या ही है। इसीलिए विष्णु रुद्रादि की दृष्टि में कल्प भी क्षण ही है। और ब्रह्माण्ड भी लघु है।

यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम्
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन् स्वप्नसङ्गमसन्निभम् ॥१।२८।१॥

हे ब्रह्मन् जो कुछ यह जगत स्थावर जङ्गम रूप में दृश्य (दिखाई देता) है। वह स्वप्न संगम के समान सब अस्थिर अर्थात् अनित्य ही है।

यदङ्गमद्य संवीतं कौशेयस्रग्विलेपनैः।
दिगम्बरं तदेव श्वो दूरे विशलिताऽवटे ॥१।२८।४॥

यदद्य नगरं दृष्टं विचित्राचारचंचलम्।
तत्रैवोदेति दिवसैः संशून्यारण्यधर्मता ॥१।२८।५॥

जो शरीर आज रेशमी वस्त्र, माला, कुंकुम और केशर के विलेपन से भूषित है वही कल वस्त्रशून्य होकर नगर के दूरवर्ती गड्ढे में सड़ेगा।

जहाँ पर आज अद्भुत आचार व्यवहार वाले मनुष्यों की चहल पहल से परिपूर्ण दिखलाई देता है; वही कुछ दिनों में मनुष्यों से शून्य अरण्य के समान दिखलाई देने लगता है।

अरण्यानी महाभीमा या नभोमंडलोपमा।
पताकाऽऽच्छादितऽऽकाशा सैव सम्पद्यते पुरी ॥१।२८।७॥

जो आज नील आकाश मण्डल के समान विस्तृत महाघन अरण्य दिखाई देता है। वही थोड़े दिनों में पताकाओं से आकाश को आच्छादित करने वाला महानगर बन जाता है।

दिवसास्ते महान्तस्ते सम्पदस्ताः क्रियाश्च ताः।
सर्वं स्मृतिपथं यातं यामो वयमपि क्षणात् ॥१।२८।१७॥

हे मुने वे महान् उत्सवपूर्ण दिन और वे सम्पत्तियाँ और वे यज्ञ आदि महान क्रियाएँ वे सब कहाँ है। सब दृष्टि पथ से दूर हो गये। केवल स्मृतिमात्र रह गयी है। वैसे ही हमलोग भी थोड़े दिन में केवल स्मृतिमात्र शेष रह जायगें।

अशूरेण हतः शूर एकेनाऽपि हतं शतम्।
प्राकृताः प्रभुतां याताः सर्वमावर्त्यते जगत् ॥१।२८।३५॥

हे मुने दुर्बल से बलवान मारा जाता है। एवं एक व्यक्ति से सौ व्यक्ति भी मारे जाते हैं। और साधारण व्यक्ति भी प्रभुता प्राप्त कर लेता है। बहुत क्या कहें सारा जगत परिवर्तनशील है।

बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीः ततो जरा।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥१।२८।३७॥

हे मुने थोड़े दिनों में बाल्यावस्था चली जाती है और युवावस्था की श्री आ जाती है। उसके अनन्तर थोड़े दिन में वृद्धावस्था भी आ जाती है। जब इस देह में भी एकरूपता नहीं है। तब बाहर के पदार्थों में क्या आशा की जाय।

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचंचला।
लीला यौवनलालनाजलरयश्चेत्याकलय्य द्रुतम् ।
मुद्रैवाऽद्य दृढाऽर्पिता ननु मया चित्ते चिरं शान्तये ॥१।२६।२३॥

हे मुने यह आयु वायु से टकराए हुए मेघों से टपक रहे जल के समान क्षणभंगुर है, एवं यह भोग मेघपटल में चमक रही बिजली के समान चंचल है। जवानी में होने वाले मनोविनोद जल के वेग के समान चपल है। यह विचार कर (अर्थात् 'आयु भोग और यौवन अनर्थ के हेतु हैं।' यह जानकर मैंने आज से ही सम्पूर्ण दोषों से रहित अपने चित्त को शान्ति के लिए दृढ बना रखा है। अर्थात् विषयों से मन को अलग कर रखा है।

श्री बाल्मीकि उवाच

सुभगाः सुलभाः रोहाः फलपल्लवशालिनः ।
जायन्ते तरवो देशे न तु चन्दनपादपाः ॥१।३३।४०॥

श्री बाल्मीकि जी कहते हैं देखने में बड़ा सुन्दर और चढ़ने

बड़ा सरल एवं में फलफूल और पल्लवों से सुशोभित वृक्ष सभी देशों में मिलते हैं। किन्तु चन्दन वृक्ष सर्वत्र नहीं होते।

वृक्षाः प्रतिवनं सन्ति नित्यं सफलपल्लवाः।

न त्वपूर्वचमत्कारो लवङ्गः सुलभः सदा ॥१।३३।४१॥

हे रामजी सुन्दर फल फूल और पल्लवों से युक्त वृक्ष सभी वन में मिलते हैं। किन्तु अपूर्व चमत्कार वाला लौंग का वृक्ष सदा सुलभ नहीं है।

न रामेण समोऽस्तीह दृष्टो लोकेषु कश्चन।

विवेकवानुदारात्मा न भावी चेति नो मतिः ॥१।३३।४५॥

रामचन्द्र के समान विवेकी उदार आत्मा (उदारचित्त-वाला) तोनों लोकों में कोई देखा नहीं गया। और आगे भी कोई नहीं होगा। यह हमारा विचार है।

इति वैराग्यप्रकरणम्

मुमुक्षुप्रकरणम्

श्री विश्वामित्र उवाच

यथाऽयं स्वविकल्पोऽस्थः स्वविकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चयः ॥२।१।३३॥

यह संसार संकल्प विकल्पवान अन्तःकरण से उत्पन्न हुआ है। और अन्तःकरण के नष्ट होने पर यह संसार नष्ट हो जाता है। अतः संसार निःसार है। ऐसा तत्त्वज्ञानियों का निश्चय है। भाव यह है कि स्वप्रकाश आत्मा के ज्ञान होने से जगत् बाधित हो जाता है बाधित होने से मिथ्या हैं। मिथ्या होने से निःसार हैं। और त्रिकाल में जिसका विनाश न हो ऐसा स्वप्रकाश आत्मा ही इस संसार का सार हैं।

जनक उवाच

अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स्वसंङ्कल्पवशाद् बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते ॥२।१।३६॥

हे शुकदेव जी इस असार संसार में सर्व व्यापक चिन्मय परम पुरुष परमात्मा ही अविच्छिन्न (कहीं विनाश न होने वाला) है। उसके सिवा अन्य सब विनाशी है। वह अद्वितीय परमात्मा अपने संकल्प से बद्ध है और संकल्परहित होने से

मुक्त हो जाता है। अर्थात् उस परमात्मा में बन्ध मुक्त का व्यवहार माया मात्र से कल्पित है। यथार्थ में वह न बन्ध है, न मुक्त है। जो बँधा रहता है। वहीं मुक्त होता है। अतः एक रस परमात्मा में त्रिकाल में भी बन्ध और मुक्ति नहीं है।

विश्वामित्र उवाच

ज्ञातज्ञेयस्य मनसो नूनमेतद्धि लक्षणम्।
न स्वदन्ते समग्राणि भोगवृन्दानि यत्पुनः ॥२।२।३॥

विश्वामित्र कहते हैं जिसने ज्ञातव्य–जानने योग्य वस्तु को जान लिया है, उस मन का यही लक्षण है कि वह सम्पूर्ण भोगों से विरक्त हो कर उनका फिर स्वाद नहीं लेता।

वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः।
पदार्थवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ॥२।२।५॥

हे रामजी वासना तानव (क्षय) को ज्ञानी लोग मोक्ष कहते है। विषयों में वासना की दृढ़ता को बन्ध कहते हैं।

वसिष्ठ उवाच

मुने यदादिशसि मे तदविघ्नं करोम्यहम्।
कः समर्थः समर्थोऽपि सतां लंघयितुं वचः ॥२।२।२५॥

हे मुने आप जो आज्ञा देते हैं, उसे मैं निर्विघ्न करता हूँ। समर्थ रहते हुए भी सन्तों की आज्ञा कौन उलंघन कर सकता है।

यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात् ।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेतदर्धात् निवर्तते ॥२।४।१२॥

जो मनुष्य जिस पदार्थ की अभिलाषा करता है और उसकी प्राप्ति का यत्न करता है। यदि यत्न करने से विघ्न पड़ने पर बीच में ही छोड़ न दे तो उस पदार्थ को अवश्य प्राप्त करता है।

सारेण पुरुषार्थेन स्वेनैव गरुडध्वजः ।
कश्चिदेव पुमानेव पुरुषोत्तमतां गतः ॥२।४।१५॥

अपने ही पुरुषार्थरूप सार से कोई पुरुष ही गरुड़ध्वज पुरुषोत्तम हो गया।

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥२।५।४॥

मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है वैसा ही फल पाता है। वह प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं। एक शास्त्र अनुमोदित दूसरा शास्त्र विरुद्ध, उनमें शास्त्र विरुद्ध प्रयत्न (कर्म) अनर्थ का कारण होता है। और शास्त्रानुमोदित कर्म परमार्थ वस्तु को प्राप्ति का कारण बनता है।

आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्संगमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थः संप्राप्यते यतः ॥२।५।२८॥

बाल्यावस्था से खूब अभ्यस्त शास्त्र, सत्सङ्ग आदि गुणों के सहित पुरुष प्रयत्न से स्वार्थं (तत्त्व साक्षात्कार) प्राप्त होता है।

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः,
को न स्यात् बहुधनको बहुश्रुतो वा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता,
संपूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥२।५।३०॥

सब अनर्थों का कारण आलस्य न हो तो कौन व्यक्ति धनवान् और विद्वान् न हो जाय। आलस्य के कारण ही यह सागर पर्यन्त पृथ्वी नर, पशुओं और निर्धनों से भरी पड़ी है।

बाल्ये गतेऽविरतकल्पितकेलिलोले,
दोर्दण्डमण्डितवयः प्रभृतिप्रयत्नात्।
सत्सङ्गमैः पदपदार्थविशुद्धबुद्धिः,
कुर्यात् नरः स्वगुणदोषविचारणानि ॥२।५।३१॥

निरन्तर कल्पित चञ्चल खेलों में बाल्यावस्था बीत जाने पर भी गुरु सेवा में समर्थ भुजाओं से अलंकृत अवस्था में अपने से श्रेष्ठ ज्ञाताओं के संग से पदपदार्थ के ज्ञान में निपुण शुद्ध बुद्धि प्राप्तकर अपने गुण दोषों का विचार करना चाहिए। भाव यह है यदि बाल्यावस्था खेल में बीत जाय तो

भी युवावस्था में अपने से अधिक गुणवानों के संग से बुद्धि शुद्धकर अपने गुण दोषों का विचार करना चाहिए।

वसिष्ठ उवाच

तस्मात्प्राक् पौरुषाद् दैवं नाऽन्यत्तत्प्रोज्झ्य दूरतः।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रैर्जीवमुत्तारयेद् बलात् ॥२।६।१॥

इसलिए पहिले पुरुषार्थ ही दैव है कुछ और नहीं ऐसा निश्चय करके दैव को दूर फेंक दे और सत्पुरुषों की संगति तथा सत् शास्त्रों के अभ्यास से अपने जीवन को बलात् (प्रयत्न पूर्वक) संसार से पार ले जाय।

यथा यथा प्रयत्नः स्यात् भवेदाशु फलं तथा।
इति पौरुषमेवाऽस्ति दैवमस्तु तदेव च ॥२।६।२॥

जैसे-जैसे प्रयत्न का आधिक्य होगा वैसे-वैसे ही शीघ्र फल होगा। उसी को पुरुषार्थ कहते हैं, उसी को दैव कहते हैं। इसमें कोई भेद नहीं है।

प्राक् स्वकर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते।
बालः प्रबलपुंसेव तज्जेतुमिह शक्यते ॥२।६।४॥

पूर्वजन्म के अपने कर्मों से भिन्न दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। जैसे बलवान युवा पुरुष बालक को जीत लेता है। वैसे प्रबल पुरुषार्थ दैव को जीत लेता है।

ह्यस्तनो दुष्टाचाराचारेणाऽद्य चारुणा ।
यथाऽऽशु शुभतामेति प्राक्तनं कर्म तत्तथा ॥२।६।५॥

जैसे कल का किया हुआ दुष्ट आचरण आज के सदाचार से शुभता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही प्राक्तन—जन्मान्तर के अशुभ कर्म भी वर्तमान के शुभ कर्मों से नष्ट हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे कल किसी ने विशेष भोजन कर लिया। आज न खाय तब तो स्वस्थ हो जायेगा। यदि वही आज फिर अधिक खा लेगा तो मर जायगा।

भिक्षुको मङ्गलेभेन नृपो यत्क्रियते क्वचित् ।
प्राक्तनं पौरुषं तत्र बलवद्वाऽपि कारणम् ॥२।६।१७॥

यदि कहीं मङ्गल-अलंकृत हाथी से भिक्षुक राजा बनाया जाता है। वहाँ उसके पूर्वजन्म के प्रबल पुरुषार्थ को ही कारण माना जाता है।

क्रमेणोपार्जितेऽप्यर्थे नष्टे कार्या न खेदिता ।
न बलं यत्र मे शक्तं तत्र का परिदेवना ॥२।६।२१॥

क्रम से उपार्जित धन का विनाश होने पर भी दुःख नहीं मानना चाहिए। जहाँ अपना बल नहीं काम करता वहाँ खेद क्यों करना चाहिए।

शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः ।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन ॥२।७।११

शास्त्र से गुरु के उपदेश से और अपने परिश्रम से इन तीनों से ही सिद्धि देखी जाती है। सर्वत्र पुरुषार्थ से ही सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, दैव से नहीं।

यथा यथा प्रयत्नो मे फलमाशु तथा तथा।
इत्यहं पौरुषादेव फलभाङ् न तु दैवतः ॥२।७।१४॥

जैसे जैसे प्रयत्न करूँगा वैसे-वैसे शीघ्र फल होगा। मैं प्रयत्न से ही फल का भागी होऊँगा, दैव से नहीं।

शुभेन पुरुषार्थेन शुभमासाद्यते फलम्।
अशुभेनाऽशुभं राम यथेच्छसि तथा कुरु ॥२।७।२०॥

हे राम, शुभ पुरुषार्थ से शुभ फल प्राप्त होता है। और अशुभ से अशुभ मिलता है। तुमको जैसी इच्छा हो वैसा करो।

पुरुषार्थात् फलप्राप्तिः देशकालवशादिह।
प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥२।७।२१॥

मनुष्य को पुरुषार्थ के अनुकूल देशकाल के वश में कभी शीघ्र और कभी विलम्ब से फल प्राप्ति होती है। उसी को दैव कहा जाता है।

न दैवं दृश्यते दृष्ट्या न च लोकान्तरे स्थितम्।
उक्तं दैवाऽभिधानेन स्वर्लोके कर्मणः फलम् ॥२।७।२२॥

दैव कहीं आँख से तो दिखता नहीं, लोकान्तर में भी कहीं नहीं रहता। स्वर्गलोक में जो कर्मफल प्राप्त होता है वही दैवनाम से कहा गया है।

दैवमेवेह चेत्कर्तृ पुंसः किमिव चेष्टया।
स्नानदानासनोच्चारान् दैवमेव करिष्यति ॥२।८।६॥

यदि दैव ही कर्ता है तो मनुष्य को चेष्टा करने की क्या आवश्यकता है। स्नान, दान, बैठना, उठना सब दैव ही कर देगा।

मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः।
प्राज्ञास्तु पुरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥२।६।१६॥

मूढ़ों ने दैवकल्पना कर रखी है। जो मनुष्य केवल दैव पर निर्भर हैं उनका तो सर्वनाश ही होता है। बुद्धिमान् तो पुरुषार्थ के द्वारा उत्तम पद प्राप्त कर लेता है।

भावी त्ववश्यमेवार्थः पुरुषार्थैकसाधनः।
यः सोऽस्मिन्लोकसङ्घाते दैवशब्देन कथ्यते ॥२।६।६॥

जन्मान्तर के पुरुषार्थ से होनेवाले अवश्य फलों को ही इस लोक में दैव शब्द से कहा जाता है।

यदेव तीव्रसंवेगात् दृढं कर्म कृतं पुरा।
तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते ॥२।६।१६॥

जन्मान्तर में प्रबल प्रयत्न के द्वारा दृढता से किये गये कर्म का ही पर्याय दैव शब्द से कहा जाता है।

श्रीराम उवाच

प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा।
मुने तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम् ॥२।६।२३॥

हे मुने प्राक्तन जन्म का वासनाजाल ही मुझको कार्य में लगाता है। उसी के अनुकूल परतन्त्र होकर मैं कार्य करता हूँ। स्वतन्त्र करने में असमर्थ हूँ।

श्री वसिष्ठ उवाच

द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाऽशुभश्च ते।
प्राक्तनो विद्यते राम द्वयोरेकतरोऽथवा ॥२।६।२५॥

हे रामजी, वासना दो प्रकार की होती है। शुभ और अशुभ। दोनों में कोई एक ही वासना आपको होगी।

शुभाऽशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥२।६।३०॥

शुभ अशुभ वासनारूपी दो धारावाली नदी प्रत्येक मनुष्य के मन में बहती हुई प्रेरणा करती है। पुरुष को चाहिए प्रबल पुरुषार्थ से अशुभ को हटाकर मन को शुभ धारा में प्रवृत्त करे।

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारय।
स्वं मनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥२।६।३१॥

हे बलवानों में श्रेष्ठ राम जी ? अशुभ वासना में समाविष्ट अपने मन को बलपूर्वक पुरुषार्थ से शुभ में ही प्रवृत्त करो।

अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत्।
जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद् बलात् ॥२।६।३२॥

बालक के समान मनुष्य के चित्त को अशुभ कर्म से रोककर शुभ में और शुभकर्म से विचलित करके अशुभ में प्रवृत्त करता है। अतः बलपूर्वक शुभ कर्म में ही प्रवृत्त करना चाहिए। अशुभ से मन को हटाना चाहिए।

वासनौघस्त्वया पूर्वमभ्यासेन घनीकृतः।
शुभो वाऽप्यशुभो वाऽपि शुभमद्य घनीकुरु ॥२।९।३४॥

पूर्व जन्म में शुभ अथवा अशुभ वासना को तुमने अभ्यास से दृढ घनीभूत बना रखा है। इस समय अशुभ वासना को दूर करके शुभ वासना को घनीभूत (दृढ) करो। यदि जन्मान्तर की शुभवासना घनी है तो इस समय शुभ-वासना के घनी होने से शीघ्रफल प्राप्त होगा।

इदानीमपि ते याति घनतां वासनाऽनघ।
अभ्यासवशतस्तस्मात् शुभाभ्यासमुपाहर ॥२।९।३६॥

हे अनघ (हे निष्पाप राम जी), पूर्व के समान इस समय भी अभ्यासवश आपकी वासना घनीभूत हो सकती है। अतः उसी शुभवासना का अभ्यास कीजिए।

अव्युत्पन्नमना यावद् भवानज्ञात तत्पदः।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥२।९।४१॥

अव्युत्पन्न चित्तवाले आपको गुरु और शास्त्र प्रमाण से जब तक तत्पद (ब्रह्मपद) का निर्णय न हो जाय तबतक शुभ वासना का आचरण करो।

ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना ॥२।६।४२॥

जब पक्व कषाय (राग द्वेषादि) नष्ट हो जाय और परमतत्व का ज्ञान हो और मानस व्यथाएँ नष्ट हो जायँ तो शुभवासना को भी त्याग कर देना चाहिए ।

निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥२।१०।२१॥

निर्वाण (मोक्ष) ही परम सुख है । जिससे मनुष्य को पुनः जन्म-मरण नहीं होता । यह ज्ञान (तत्पद) से ही प्राप्त होता है ।

संसारात् तरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः ॥२।१।२२॥

संसार में जीव को जन्म मरण से छूटने के लिए एकमात्र ज्ञान ही उपाय है । तप, दान और तीर्थयात्रा यथार्थ उपाय नहीं हैं । (तप दान तीर्थादि के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान से जन्म मरण से छूट जाता है । तपोदानादि परम्परया साधन है ।)

परामृश्य विवेकेन संसाररचनामिमाम् ।
वैराग्यं येऽधिगच्छन्ति त एव पुरुषोत्तमाः ॥२।११।२६॥

इस संसार की रचना को विवेक से विचारकर जो व्यक्ति वैराग्य प्राप्त करता है वही पुरुषों में श्रेष्ठ है ।

स्वविवेकवशादेव विचार्येदं पुनः पुनः ।
इन्द्रजालं परित्याज्य स वाह्याभ्यन्तरं बलात् ॥२।११।२७॥

अपने विवेक से ही इस संसाररूपी इन्द्रजाल को बार-बार हठपूर्वक विचार करके बाहर भीतर (बाहर देह एवं भीतर इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि) सबको त्याग देना चाहिए ।

श्मशानमापदं दैन्यं दृष्ट्वा को न विरज्यते ।
तद् वैराग्यं परं श्रेयः स्वतो यदभिजायते ॥२।११।२८॥

श्मशान और आपत्ति एवं दीनता को देखकर सभी को वैराग्य होता है । किन्तु परम् वैराग्य वही है जो अपने मन से स्वतः उत्पन्न होता हो ।

प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाधयः ।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥२।११।४१॥

जैसे वर्षा से सिक्त (भीगे हुए) वन को अग्नि नहीं जलाती । वैसे ही जिसने ज्ञातव्य (जानने योग्य वस्तु) को जान लिया है उसको आधि (मानस व्यथा) सन्ताप नहीं देती है ।

अतत्त्वज्ञमनादेयवचनं वाग्विदांवर ।
यः पृच्छति नरं तस्मान्नाऽस्ति मूढतरोऽपरः ॥२।११।४५॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ रामजी, जो पुरुष तत्त्वज्ञ नहीं है उसका

तत्त्व के विषय में वचन ग्राह्य नहीं है। ऐसे पुरुषों से आत्म-तत्त्व का प्रश्न करने वाले से दूसरा मूढ़ नहीं है।

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
समो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥२।११।५६॥

मोक्ष के द्वार में चार द्वारपाल हैं। सम, विचार, सन्तोष और चौथा साधु सङ्गम।

एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा ॥२।११।६०॥

उपर्युक्त चारों द्वारपालों का प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। चारों का सेवन न हो सके तो तीन अथवा दो का भी सेवन करने से ये मोक्षरूपी राजगृह में प्रवेश के लिए द्वार खोल देंगे।

एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत्।
एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः ॥२।११।६१॥

ऊपर कहे हुए चार में से एक का भी प्रयत्नपूर्वक प्राण त्याग करके भी आश्रयण करना चाहिए। एक के वश में हो जाने से चारों वश में हो जाते हैं।

वैराग्याऽभ्यासयोगेन समसौजन्यसम्पदाम्।
अर्जनां कुरुतां राम यत्र नाशो न विद्यते ॥२।११।६६॥

हे रामजी, वैराग्याभ्यास के योग से सम सौजन्य आदि सम्पत्तियों का उपार्जन कीजिए, जहाँ कभी विनाश नहीं होता।

शास्त्रसज्जनसंसर्गपूर्वकैः सतपोदमैः।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाऽभिवर्द्धयेत् ॥२।११।६७॥

पहले शास्त्र का अभ्यास और सज्जन की संगतिपूर्वक तप और इन्द्रिय संयम के द्वारा बुद्धि को ही बढ़ावे।

पूर्वाऽपरविचारार्थं चारुचातुर्यशालिनी।
सविकाशा मतिर्यस्य स पुमानिह कथ्यते ॥२।११।७२॥

पूर्वापर विचार से सूक्ष्म वस्तु के ग्रहण करने में जिसकी बुद्धि चतुर है और विकासशील है वही संसार में बुद्धिमान् पुरुष कहा जाता है।

अवश्यमिह हि विचारे कृते सकलदुःखपरिक्षयो भवति।
मन्तव्यं नाऽतो विचारदृष्टयोऽवहेलया द्रष्टव्याः ॥२।१२।१२॥

विचार करने पर समस्तदुःखों का नाश अवश्य हो जाता है। अतः विचारवान लोगों को अनादर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

परीक्षीणे मोहे विगलति घनेऽज्ञानजलदे
परिज्ञाते तत्त्वे समधिगताऽऽत्मन्यतितते।
विचार्याऽऽर्यैः सार्द्धं चलितवपुषो वै सदृशतो
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥२।१२।२०॥

आचार्यों के साथ विचार करने पर मोहरूपी घना अज्ञानरूपी मेघ क्षीण हो जाता है। तब परिपूर्ण आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है और आत्मतत्त्व के बोध होने पर आत्मा के समान ही स्थूल देह में अध्यस्त जो 'अहं' 'अहम्' जो आत्मतत्व उसकी निवृत्ति हो जाती है। तब यह संसार में घूमना आनन्द रूप हो जाता है। अतः यह संसार अज्ञानियों के वास्ते तो दुःख है किन्तु ज्ञानी के वास्ते आनन्दरूप है। इस संसार के रहने से ही ज्ञानी को जीवन मुक्ति का आनन्द मिलता है। क्योंकि यह संसार तो माया का विलास है।

तस्मात् विचारेणाऽऽत्मैवाऽन्वेष्टव्य उपासनीयो ।
ज्ञातव्यो यावत् जीवम् पुरुषेण नेतरदिति ॥२।१३।१०॥

इसलिये कि विचार से ही अज्ञान दूर होता है, अतः जब तक मनुष्य जीता रहे विचार द्वारा बार-बार श्रवण मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्मा को ही जानना चाहिए। दूसरी वस्तु को जानने से कोई लाभ नहीं है।

स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता ।
यस्याऽभ्यासेन तेनाऽऽत्मा सन्ततेनाऽवलोक्यते॥२।१३।११॥

अपना अनुभव, शास्त्रवचन और गुरु का उपदेश तीनों की एकवाक्यता होने पर उसी का बार-बार अभ्यास करने से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

न व्याधिर्न विषं नाऽऽपत्तथा नाधिश्च भूतले ।
खेदाय स्वशरीरस्थं मौर्ख्यमेकं यथा नृणाम् ॥२।१३।१३॥

जैसे मनुष्य को इस शरीर में मूर्खता से दुःख होता है। वैसा ज्वर आदि शारीरिक रोग से और विष के द्वारा प्राप्त आपत्ति से मानसी चिन्ता से वैसा दुःख नहीं होता ।

वरं शरावहस्तस्य चाण्डालागारवीथिषु ।
भिक्षार्थमटनं राम न मौर्ख्यहतजीवितम् ॥२।१३।१७॥

हे रामजी ! मिट्टी का कसोरा ले करके चाण्डाल के घर की गलियों में, घर-घर भिक्षा माँगना अच्छा, लेकिन मूर्खतापूर्ण जीवन अच्छा नहीं ।

यत्प्राप्य न निवर्तन्ते यदासाद्य न शोचति ।
तत्पदं शेमुषीलभ्यमस्त्येवाऽत्र न संशयः ॥२।१३।३४॥

जिसको प्राप्त करके नहीं लौटता, जिसके प्राप्त करने पर शोक नहीं करता ऐसा परमपद केवल शुद्ध बुद्धि से ही प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं करना ।

प्रवृत्तिः पुरुषस्येह मोक्षोपायविचारणे ।
यदा भवत्याशु तदा मोक्षभागी स उच्यते ॥२।१३।३६॥

जब इस लोक में पुरुष की मोक्ष के उपाय के विचार में जब प्रवृत्ति होती है तब वह मोक्ष का भागी कहा जाता है ।

श्रीराम उवाच

शमेनाऽऽसाद्यते श्रेयः शमो हि परमं पदम् ।
शमः शिवः शमः शान्तिः शमो भ्रान्तिनिवारणम् ॥२।१३।५२॥

शम (मनोनिरोध) से ही श्रेय प्राप्त होता है और शम से ही परमपद की प्राप्ति होती है। शम ही शिव है और शम से ही भ्रान्ति-निवृत्ति होती है। शम से तृप्ति शीतलता और निर्मलता प्राप्त होती है। जो शम से शोभित है उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है।

यः समः सर्वभूतेषु भाविकांक्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥२।१३।७३॥

जो पुरुष यत्नपूर्वक इन्द्रियों को जीतकर सब जीवों में समान व्यवहार करता है ? किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और प्रारब्ध से प्राप्त वस्तु का त्याग नहीं करता वही शान्त कहा जाता है।

योऽन्तः शीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति ।
व्यवहारी न संमूढः स शान्त इति कथ्यते ॥२१।१३।७८॥

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शीतल है, संसार में व्यवहार करता हुआ भी वह विषयों में आसक्त नहीं होता और मूढ भी नहीं है वही शान्त पुरुष कहलाता है।

विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम् ।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम ॥२।१४।२॥

विचार से तीक्ष्णता प्राप्त कर निपुण बुद्धि परं पद को देखती है भयङ्कर संसार रूपी रोग की महान औषधि विचार ही है।

(विचार)

राज्यानि संपदस्फारा भोगो मोक्षश्च शाश्वतः।
विचारकल्पवृक्षस्य फलान्येतानि राघव ॥२।१४।१०॥

हे राघव ? बडे-बड़े राज्य, महती सम्पत्ति, भोग और कभी नाश न होने वाला मोक्ष ये सब विचाररूपी वृक्ष के ही फल हैं।

कोऽहं कस्य च संसार इत्यापद्यपि धीमता।
चिन्तनीयं प्रयत्नेन सप्रतीकारमात्मना ॥२।१४।३७॥

बुद्धिमान को आपत्ति में भी मैं कौन हूं, संसार का किसके साथ सम्बन्ध है यह प्रयत्नपूर्वक संसार से छूटने का उपाय चिन्तन करना चाहिए।

कोऽयं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥२।१४।५०॥

यह कौन है, यह संसाररूप दोष कैसे आया न्याय (सत्पुरुष एवं सत् शास्त्र) के द्वारा परामर्श करने का नाम विचार है।

(संतोष)

संतोषो हि परं श्रेयः संतोषः सुखमुच्यते ।
सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ॥२।१५।१॥

हे शत्रुसूदन रामजी, सन्तोष ही परमश्रेय कहा जाता है, संतोष ही सुख कहलाता है संतोषयुक्त पुरुष परं विश्रान्ति प्राप्त करता है।

अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य सम्प्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः स सन्तुष्ट इहोच्यते ॥ २।१५।६॥

हे रामजी, अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करना प्राप्त वस्तु से भी प्रसन्न नहीं होना इस प्रकार हर्ष और शोक से रहित प्राणी ही सन्तुष्ट कहा जाता है।

अकिञ्चनोऽप्यसौ जन्तुः साम्राज्यसुखमश्नुते ।
आधिव्याधिविनिर्मुक्तं सन्तुष्टं यस्य मानसम् ॥२।१५।११॥

जिसका मन सन्तुष्ट है एवं आधिव्याधि (शारीरिक क्लेश और मानसिक क्लेश) से रहित है वह अकिञ्चन होने पर भी व्यक्ति साम्राज्य का सुख प्राप्त करता है।

श्री वसिष्ठ उवाच

(साधु संगति)

साधुसङ्गतरोर्जातं विवेककुसुमं सितम् ।
रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलश्रियः ॥२।१६।२॥

हे महामते । साधु संगतिरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुए स्वच्छ निर्मल विवेकरूपी पुष्प की जो रक्षा करते हैं वे मोक्ष फलरूपी श्री को प्राप्त करते हैं।

साधुसङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥२।१६।६
यः स्नातः शीतसितया साधुसङ्गतिगङ्गया।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः॥२।१६।१॥

इस लोक में साधुसङ्गति ही सन्मार्ग का दीपक है और सन्मार्ग ही हृदय में अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करनेवाली सूर्य की प्रभा है। शीतल और स्वच्छ इस साधु-सङ्गतिरूपो गंगा में जिसने स्नान किया उसको दान, तीर्थ, और तप से क्या तथा यज्ञों से भी क्या (अर्थात् दान, तीर्थ, तप, और यज्ञों का फल सत्सङ्गति से हो प्राप्त हो जाता है।)

संतोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा।
एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥२।१६।१८॥

सन्तोष, साधु सङ्गति एवं विचार और शम यह चारों ही मनुष्यों के लिए संसाररूपी समुद्र से तैरने के उपाय हैं।

सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥२।१६।१६॥

सन्तोष ही परम लाभ है, सतसङ्गति ही परागति है और विचार ही परमज्ञान है और शम ही परम सुख है।

मनोमोहवने ह्यस्मिन् वेगिनी वासनासरित् ।
शुभाशुभवृहत्कला नित्यं वहति जन्तुषु ॥२।१६।३३॥

प्राणियों के मनोमोहरूपी वन में बड़े वेग से पाप पुण्य रूप दो धारावाली वासना नदी बह रही है। इनके शुभाशुभ दो किनारे हैं।

सा हि स्वेन प्रयत्नेन यस्मिन्नेव निपात्यते ।
कूले तेनैव वहति यथेच्छसि तथा कुरु ॥२।१६।३४॥

अपने प्रयत्न से ही जिस धारा में जो जाना चाहता है शुभ में जाना चाहे अथवा अशुभ में जाना चाहे जिस धारा में जो गिरता है उसी धारा में वह बहता है। आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करो। चाहे शुभ धारा में बहो अथवा अशुभ धारा में।

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिवत्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥२।१८।३॥

युक्तियुक्त होने पर बालक का बचन भी ग्रहण करना चाहिए युक्तिशून्य ब्रह्मा का भी वचन हो तो तृण की तरह त्याग देना चाहिए।

योऽस्मत् तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गांङ्ग पुःरस्थं तं को नु शास्त्यतिरागिणम् ॥२।१८।४॥

जो व्यक्ति अत्यन्तराग से यह कुआ हमारे बाप दादे का बनाया हुआ है ऐसा समझ करके कुए का जल पीता है और

सामने में स्थित गंगा जल को त्याग देता है ऐसे अत्यन्तरागी की कौन शासन कर सकता है।

परिज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति।
यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति ॥२।१८।४१॥

जैसे चित्र लिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है। ऐसा ज्ञान होने पर चित्र के सर्प की सर्पता दूर हो जाती है वैसे ही संसार का यथार्थ ज्ञान होने पर संसार का विनाश हो जाता है। संसार का अधिष्ठान ही शेष रह जाता है।

सुमनः पल्लवामर्दे किञ्चित व्यतिकरो भवेत्।
परमार्थपदप्राप्तौ न तु व्यतिकरोऽल्पकः ॥२।१८।४२॥

कोमल पुष्प और पत्तों के मर्दन करने में कुछ व्यापार करना पड़ता है किन्तु परमपद की प्राप्ति में थोड़ा भी व्यापार नहीं करना पड़ता।

गच्छत्यवयवः स्पन्दं सुमनः पत्रमर्दने।
इह धीमात्ररोधस्तु नाङ्गाऽवयवचालनम् ॥२।१८।४३॥

पुष्प और पत्ते के मर्दन करने में कुछ शारीरिक व्यापार करना पड़ता है किन्तु परमपद की प्राप्ति में बुद्धि का व्यापार भी निरोध हो जाता है। अङ्गों के व्यापार की तो कौन कहे।

सुखासनोपविष्टेन यथा सम्भवमश्नता।
भोगजालं सदाचारविरुद्धेषु न तिष्ठता ॥२।१८।४४॥

यथाक्षणं यथादेशं प्रविचारयता सुखम् ।
यथा सम्भवसत्सङ्गमिदं शास्त्रमथेतरत् ॥२।१८।४५॥
आसाद्यते महाज्ञानबोधः संसारशान्तिदः ।
न भूयो जायते येन योनियन्त्रप्रपीडनम् ॥२।१८।४६॥

सुख से आसन पर बैठा हुआ यथासम्भवभोगों को भोगता हुआ शास्त्रानुकूल देशकाल में यथायोग्य सत्संग के अनुसार शास्त्र और उपनिषदों का सुखपूर्वक विचार करने वाले को संसाररूप क्लेश से मुक्त कर देने वाला ब्रह्मज्ञानरूप बोध प्राप्त हो जाता है और वह फिर योनियन्त्र अर्थात् माता के गर्भ में आकर पीड़ित नहीं होता ।

एतावत्यपि येऽभीताः पापा योगरसे स्थिताः ।
स्वमातृविष्ठाकृमयः कीर्तनीया न तेऽधमाः ॥२।१८।४७॥

ब्रह्मज्ञान का बोध करने वाला उपनिषद आदि शास्त्रों के रहने पर भी जो पापात्मा भोगों में आसक्त है । वह अधम माता के मल का कीड़ा है । ऐसे अधमों का नाम भी नहीं लेना चाहिए ।

विचारयाऽऽचार्यपरम्पराणां मतेन सत्येन सितेन तावत् ।
यावद्विशुद्धं स्वयमेव बुद्ध्या ह्यनन्तरूपं परमभ्युपैषि ॥२।१६।३५॥

हे रामजो, जबतक आप स्वयं अपनी बुद्धि से उस अनन्तरूप विशुद्ध परब्रह्म को साक्षात् नहीं करते तब तक परमार्थनिष्ठ आचार्य को परम्परा से विचार करते रहना चाहिए ।

वसिष्ठ उवाच

आर्यसङ्गमयुक्त्यादौ प्रज्ञां बुद्धिं नयेद् बलात् ।
ततो महापुरुषतां महापुरुषलक्षणैः ॥२।२०।१॥

हे रामजी पहले आचार्य के संसर्ग से और उनके बतायी युक्तियों से बुद्धि को बढ़ाना चाहिए। उसके बाद महापुरुष के लक्षणों से अपने में महापुरुषता सम्पादन करना चाहिए।

गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।
परस्परं विवर्द्धन्ते ते चाब्जसरसी इव ॥२।२०।६॥

ज्ञान से शमदमादि गुण और शमदमादिगुणों से ज्ञान परस्पर बढ़ते हैं। जैसे कमल से तालाब और तालाब से कमल की शोभा बढ़ती है।

ज्ञानं सत्पुरुषाचाराज्ज्ञानात्सत्पुरुषक्रमः ।
परस्परं गतौ बुद्धिं ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ॥२।२०।७॥

सत्पुरुषों के आचार से ज्ञान की वृद्धि होती है। और ज्ञान से सत्पुरुषों के आचार की वृद्धि होती है। ज्ञान और सत्पुरुषों के आचार परस्पर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

न यावत्सममभ्यस्तौ ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ।
एकोऽपि नैतयोस्तात पुरुषस्येह सिद्ध्यति ॥२।२०।६॥

ज्ञान और सत्पुरुषों का आचार दोनों का जबतक एक साथ अभ्यास नहीं किया जायगा तबतक उनमें से एक की भी सिद्धि नहीं होगी अर्थात् न आचार दृढ होगा न ज्ञान ही होगा।

उत्पत्तिप्रकरणम्

श्रीराम उवाच

वाग्भाभिर्ब्रह्मविद् ब्रह्म भाति स्वप्नेवाऽऽत्मनि ।
यदिदं तत्स्वशब्दोत्थैर्यो यद्वेत्ति स वेत्ति तत् ॥३।१।१॥

ब्रह्मविद् को बाणियों के द्वारा ब्रह्म ही भान होता है जैसे आत्मा में ही स्वप्न भान होता है। जो इदम् और तत् शब्दों से उठे हुए अहं और इदं अर्थात् हम और हमारा इसको जो जानता है वही यथार्थ जानता है।

भाव यह है अहं इस अधिष्ठान में अध्यस्त जो इदम् शब्द वाच्य जगत् जो कि आत्मा में अध्यस्त है अधिष्ठान से भिन्न, अध्यस्त की कोई सत्ता नहीं होती।

इसीलिए अधिष्ठान स्वरूप आत्मा में जगत् का अध्यास करके अधिष्ठान का बोध कराते हैं। क्योंकि अध्यारोप और अपवाद से ही आत्मतत्त्व का बोध होता है न्यायविद् का कहना है "अध्यारोपापवादभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते इसीलिए निष्प्रपञ्च ब्रह्म में यह जगत उत्पत्ति, स्थिति, लय इसका आरोप करते हैं।

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥३।१।१०॥

जो यह चराचर सम्पूर्ण जगत् दिखाई देता है। वह सुषुप्ति में स्वप्न के समान है और कल्पान्त में नष्ट हो जायगा।

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिस्यते ॥३।१।११॥

प्रलय के अनन्तर स्तिमित (अचल) और गम्भीर परिच्छेद शून्य न तेज न तम अज्ञान से आवृत अनाख्य (नाम से रहित) रूप से रहित और व्याप्त कोई सत् वस्तु ही शेष रह जाता है।

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥३।१।१२॥

विद्वानों ने व्यवहार के लिए सद्रूप ब्रह्म में ऋत, आत्मा, परब्रह्म और सत्य यह सब नामों की कल्पना की है।

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्गः बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्य बलाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ॥३।१।२२॥

हे अङ्ग ? दृश्य प्रपञ्च की सत्ता (अस्तित्व) है यही द्रष्टा का बन्ध है। दृश्य के कारण ही द्रष्टा बलपूर्वक बँधा है। दृश्य के अभाव होने पर द्रष्टा मुक्त हो जाता है।

जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते।
यावदेतत्संभवति तावत् मोक्षो न विद्यते ॥३।१।२३॥

त्वं और अहम् यह मिथ्यात्मा जगत् दृश्य कहा जाता

है। वह दृश्य जगत् जब तक बना रहेगा तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

नेदं नेदमिति व्यर्थप्रलापैर्नोपशाम्यति।
संङ्कल्पजनकैर्दृश्यव्याधिः प्रत्युत वर्द्धते ॥३।१।२४॥

यह नहीं, यह नहीं इन व्यर्थ के प्रलापों से इसका निराकरण नहीं हो सकता बल्कि संकल्प से दृश्यरूप व्याधि बढ़ती ही जायगी।

न च तर्कभरक्षोदैर्न तीर्थनियमादिभिः।
सतो दृश्यस्य जगतो यस्मादेति विचारकाः॥३।१।२५॥

दृश्यरूप जगत के रहते अनेकों तर्क, तीर्थयात्रा और नियम आदि से इसकी उपेक्षा नहीं की जाती। बल्कि विचार से ही इस दृश्य को बाध करना चाहिए।

जगद्दृश्यं तु यद्यस्ति न शाम्यत्येव कस्यचित्।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥३।१।२६॥

यदि यह जगत् सत्य है तब तो इसकी कभी शान्ति (निवृत्ति) नहीं होगी और बिना इसके शान्त हुए मोक्ष भी नहीं होगा। क्योंकि असत् की सत्ता (भाव) नहीं रहती और सत का अभाव नहीं होता। अतः संसार की निवृत्ति होती है अतः संसार मिथ्या है। ऐसा जानना चाहिए।

व्युत्थाने हि समाधानात् सुषुप्तान्तइवाऽखिलम्।
जगद् दुःखमिदं भाति यथास्थितमखण्डितम् ॥३।१।३४॥

समाधि से व्युत्थान (उठने) पर सुषुप्ति से जागने के समान इस जगत का दुःखरूप में भान होता है जैसे पहले भान होता था।

प्राप्तं भवति हे राम तत्किं नाम समाधिभिः।
भूयोऽनर्थनिपाते हि क्षणसाम्ये हि किं सुखम् ॥३।२।३५॥

समाधि टूटने पर फिर जगत जैसा का तैसा प्राप्त हो जाता है फिर क्षणमात्र की समाधि से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। जैसे महाअनर्थों के एक के बाद एक के होने से यदि एकक्षण सम रहे तो भी उससे क्या सुख है।

तस्माद् यदीदं सद्दृश्यं तन्न शाम्येत् कदाचन।
शाम्येत्तपोजपध्यानैर्दृश्यमित्यज्ञकल्पना ॥३।१।४१॥

यदि यह दृश्य सत माना जाय तब तो इसकी शान्ति कभी नहीं होगी। यदि जप, तप और ध्यान से इसकी निवृत्ति हो जाती है। कहा जाय तो यह अज्ञानियों की कल्पना है।

यथा रसः पदार्थेषु यथा तैलं तिलादिषु।
कुसुमेषु यथाऽऽमोदस्तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥३।१।४३॥

जैसे पदार्थों में रस, तिलों में तेल पुष्पों में जैसे—सुगन्ध वैसे ही द्रष्टा में दृश्यबुद्धि रहती है।

यथा चाऽत्र तव स्वप्नः संकल्पश्चित्तराज्यधीः।
स्वानुभूत्येव दृष्टान्तः तथा ह्यस्ति दृश्यभूः ॥३।१।४५॥

जैसे स्वप्न अपने ही अनुभव से देखे जाते हैं। जैसे

मनोराज्य अपने आप ही अनुभव होता है वैसे ही यह दृश्य-जगत् भी अपने बुद्धि में ही प्रतीत होता है। सुषुप्ति में बुद्धि के नहीं रहने पर जगत् भी नहीं रहता है।

नाऽसौ स्वकारणाद्भिन्नो भवतीत्यनुभूयते।
कारणानामभावेन तस्मादेष स्वयंभवः ॥३।२।३०॥

जैसे कारण से कार्यभिन्न नहीं होता यह अनुभूत होता है। उसी प्रकार यह जगत भी कारणरूप ही स्वयं प्रतीत होता है।

सङ्कल्पमात्रमेवैतन्मनो ब्रह्मेति कथ्यते।
सङ्कल्पाकाशपुरुषो नाऽस्य पृथ्व्यादि विद्यते ॥३।२।५४॥

संकल्पमात्र मन ही ब्रह्म कहा जाता है। यह संकल्पाकाश पुरुष ही ब्रह्म है। इसी में पृथ्वी आदि विद्यमान है।

न दृश्यमस्ति न द्रष्टा परमात्मनि केवले।
स्वयंचित्ता तथाप्येष स्वयंभूरिति भासते ॥३।२।५३॥

केवल शुद्ध—परमात्मा में न द्रष्टा है न दृश्य है तथापि चिन्मात्र अपने स्वभाव से स्वयंभू नाम से प्रकाशित होता है।

चिद्व्योमकेवलमनन्तमनादिमध्यं
ब्रह्मेति भाति निजचित्तवशात् स्वयंभूः।
आकारवानिव पुमानिव वस्तुतस्तु
वन्ध्यातनूज इव तस्य तु नाऽस्ति देहः ॥३।२।५६॥

आदि मध्य और अन्तरहित केवल चिदाकाशरूप अद्वितीयब्रह्म ही अपने चित्त—(संकल्प) वशात् स्वयंभू आकारवान

और पुरुष के समान भासिक होता है। यह भान केवल विवर्त-मात्र है। वास्तव में बन्ध्या पुत्र के समान देह से रहित है।

आतिवाहिक एवाऽसौ देहोऽस्त्यस्य स्वयंभुवः।
न त्वाधिभौतिको राम देहोऽजस्योपपद्यते ॥३।३।६॥

हे रामजी ? इस स्वयंभू ब्रह्मा की आतिवाहिक—(धूम आदि मार्ग से लोकान्तर में पहुँचाने वाला लिङ्ग-शरीर) के सदृश ही शरीर है। अजन्मा का आधिभौतिक आदि (स्थूल शरीर) नहीं हो सकते।

सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम्।
अजस्य कारणाभावादेक एवाऽऽतिवाहिकः ॥३।३।८॥

हे रामजी कारणात्मक सभी प्राणियों के दो शरीर होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म, कारणरहित होने से अजन्मा हिरण्यगर्भ का केवल एक आतिवाहिक ही शरीर है।

सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम्।
अजस्य कारणं नाऽस्ति तेनाऽसावेकदेहवान् ॥३।३।६॥

यह अज परमात्मा हिरण्यगर्भ सब भूतो का परम-कारण है इसीलिए कारणरहित इस अज का एक ही देह हैं।

नास्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः।
आकाशात्मा च भात्येष आतिवाहिकदेहवान् ॥३।३।१०॥

प्रथम प्रजापति—ब्रह्मा का भौतिक शरीर नहीं है। आतिवाहिक शरीर होने से चिदाकाशरूप से ही भान होता है।

निर्वाणमात्रं पुरुषः परो बोधः स एव च ।
चित्तमात्रं तदेवाऽऽस्ते नाऽऽस्थाति वसुधादिताम् ॥३।३।१३॥

चिन्मात्र बोधरूप पर पुरुष असङ्ग होने पर भी चित्तोपाधि मात्र से चिदाकाश है । इसीलिए इसको भौतिकशरीर प्राप्त नहीं है ।

दृष्टान्तोऽत्र भवत्स्वप्नस्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ।
असदप्यर्थसम्पत्या सत्त्यानुभवभासुरम् ॥३।३।१७॥

असद् भी इस जगत् का अपने ऐश्वर्य से सत के जैसा भान होता है जैसे स्वप्न में स्वप्न स्त्री सभागम के समान स्वप्न मिथ्या होने पर सुरतक्रिया का सत्य ही वीर्यपात आदि प्रयोजन प्रतीत होता है ।

आतिवाहिकमेवान्तर्विस्मृत्या दृढरूपया ।
आधिभौतिकबोधेन मुधा भाति पिशाचवत् ॥३।३।२२॥

आतिवाहिक स्वरूप से विस्मरण होने से आतिवाहिक शरीर ही सर्वथा असत् पिशाच वास्तव में सर्वथा असत् है भ्रमवश आकारवान् प्रतीत होता है। यह यियम सबके लिए है ।

मनोमात्रं यदा ब्रह्मा न पृथ्व्यादिमयात्मकः ।
मनोमात्रमतो विश्वं यद्यज्जातं तदेव हि ॥३।३।२५॥

जब ब्रह्मा ही मनोमात्र है ? पृथिवी आदि स्थूल शरीर नहीं है तब उससे उत्पन्न हुआ। यह विश्व भी मनोमात्र ही

है। यह नियम है कारण से कार्यं भिन्न नहीं होता। अतः विश्व भी मनोमात्र ही है।

अजस्य सहकारीणि कारणानि न सन्ति यत्।
तज्जस्याऽपि न सन्त्येव, तानि तस्मात्तु कानिचित् ॥३।३।२६॥

जब अज की उत्पत्ति में सहकारिकारण नहीं है तो उससे उत्पन्न हुए विश्व का भी कोई सहकारी कारण नहीं है। यह ठीक ही है। कारण से कार्यं में कोई वैचित्र्य नहीं है। इसलिए शुद्धकारण ही विवर्तरूप से ही कार्यरूप में प्रतीत होता है।

कारणात्कार्यवैचित्र्यं तेन नाऽत्राऽस्ति किञ्चन।
यादृशं कारणं शुद्धं कार्यं तादृगिति स्थितम् ॥३।३।२७॥

इसमें कारण से कार्य में वैचित्र्य नहीं है। जैसा शुद्ध कारण है वैसा ही शुद्ध कार्यं है। यही स्थिति है।

कार्यकारणता। ह्यत्र न किञ्चिदुपपद्यते।
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्त्रयम् ॥३।३।२८॥

यथार्थं में तो इस विश्व की उत्पत्ति में युक्ति से कार्यं कारणता ही सिद्ध नहीं होती अतः कुछ जगत् उत्पन्न हुआ ही नहीं। ब्रह्म का विवर्त ही जगत्रूप में मान होता है।

सच्चेन्न शाम्यति कदाचन दृश्यदुःखम्,
दृश्ये त्वशाम्यति न बोद्धरि केवलत्वम्।

दृश्ये त्वसम्भवति बोद्धरि बोद्धृभावः,
शाम्येत् स्थितोऽपि हि तदस्य विमोक्षमाहुः॥३।३।४०॥

यदि दृश्य सत् होता तो इसकी कभी शान्ति नहीं होती दृश्य की शान्ति नहीं होगी तो मोक्ष नहीं होगा।

अतः दृश्य की सत्ता कभी सम्भव नहीं है। केवल बुद्धिमात्र में यह स्थित है। बुद्धि बाह्य विषयों का चिन्तन छोड़ दे इसी का नाम मोक्ष है।

श्रीराम उवाच

भगवन् मनसो रूपं कीदृशं वद मे स्फुटम्।
यस्मात्तेनेयमखिला तन्यते लोकमञ्जरी ॥३।४।३७॥

हे भगवन ? मन का स्वरूप कैसा है जिसके द्वारा संसार रूप यह मञ्जरी फैली हुई है इसको स्पष्ट रूप से कहिए।

वसिष्ठ उवाच

रामाऽस्य मनसो रूपं न किञ्चिदपि दृश्यते।
नाममात्रादृते व्योम्नो यथाशून्यजडाकृतेः ॥३।४।३८॥

हे राम जो जैसे आकाश का कोई रूप नहीं शून्य और जड़मात्र है वैसे ही मन का कुछ भी स्वरूप नहीं दिखाई देता है।

इदमस्मात् समुत्पन्नं मृगतृष्णाम्बुसन्निभम्।
रूपं तु क्षणसङ्कल्पात् द्वितीयेन्दुभ्रमोपमम् ॥३।४।४०॥

मृगतृष्णा के जल की तरह मिथ्या यह जगत मन से

उत्पन्न होता है। इसका स्वरूप सङ्कल्प से द्वितीय चन्द्रमा के भ्रम के समान भ्रमात्मक है।

सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पात् तन्न-भिद्यते।
यथा द्रवत्वात् सलिलं यथा स्पन्दो यथाऽनिलात् ॥३।४।४३॥

जैसे द्रव ही जल का रूप है, जैसे स्पन्द ही वायु का रूप है वैसे ही मन का स्वरूप संकल्प है। संकल्प से भिन्न मन नहीं है।

सत्यमस्त्वथवासत्यं पदार्थप्रतिभासनम्।
तावन्मात्रां मनोविद्धि तद् ब्रह्मैव पितामहः ॥३।४।४५॥

प्रदार्थ प्रतिभासन रूप से मन चाहे सत्य हो अथवा असत्य इससे हमारा कोई हठ नहीं है। जैसा व्यष्टि संकल्प रूप मन है वैसे समष्टि संकल्प स्वभाव ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है।

अविद्या संसृतिश्चित्तं मनो बन्धो मलस्तमः।
इति पर्यायनामानि दृश्यस्य विदुरुत्तमाः ॥३।४।४७॥

यह जो दृश्य जगत है उसका अविद्या, संसृति, चित्त, मन, बन्धु, मल और तम यह पर्याय वाचक नाम है। ऐसा उत्तम लोग जानते हैं।

यदिदं दृश्यते किञ्चिद् दृश्यजातं पुरोगतम्।
परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् ॥३।४।६८॥

जो कुछ भी यह दृश्यजगत सामने दिखाई देता है वह अजर, अमर, अव्यय स्वरूप पर ब्रह्म ही दिखाई देता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चाऽऽत्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः ॥३।५।५॥
यः पुमान सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥३।५।६॥
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम् ।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्ता सदैव सः ॥३।५।७॥

जो स्वयं प्रकाश है जिससे मन के सहित बाणी लौट आती है। अर्थात् मन बाणी से जो परे है। मुक्त लोग के द्वारा जाना जाता है। उसी का आत्मा आदि कल्पित नाम है। स्वभावतः नाम रूप से सहित है। जिसको सांख्यवादी पुरुष कहते हैं वेदान्तवादी जिसको ब्रह्म कहते हैं। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध जिसको विज्ञानमात्र कहता है। शून्यवादी जिसे शून्य कहते हैं जो सूर्य आदि का भी भासक है। (तमेव भान्त मनुभाति सर्वम्) उसीको सभी वादी अपने अपने बुद्धि वैभव से भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं। और भिन्न-भिन्न नाम रखते हैं। फिर भी वह एक अधिष्ठान सत्ता स्वरूप ब्रह्म में किसी को भी विवाद नहीं है। नहीं बक्ता, मन्ता, ऋत, भोक्ता, द्रष्टा और कर्ता रूप से वही मान होता है। वक्ता—बाणी में विषय ग्रहण करनेवाली शक्ति देने वाला मन्ता—मन में मनन शक्ति देनेवाला, ऋत—त्रिकाल बाध्य, जो कभी बाधित नहीं होता है, भोक्ता—उपाधि धारण करने से भोक्ता, उपाधि रहित होने से अभोक्ता निर्मल, द्रष्टा—

देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदि समस्त दृश्य जगत का द्रष्टा और कर्ता—समस्त प्राणियों में क्रिया शक्ति प्रदान करने वाला भी वही सद् ब्रह्म है। ५।६।७

श्री वसिष्ठ उवाच

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्न त्वनुष्ठानदुःखतः ॥३।६।१॥

हे रामजी इसी देवाधिदेव पर परमात्मा के ज्ञान में ही परासिद्धि–अर्थात् निर्माण पदवी प्राप्त होती है। दुःख रूप कर्मानुष्ठान से नहीं प्राप्त होती है।

किञ्चिन्नोपकरोत्यत्र तपोदानव्रतादिकम्।
स्वभावमात्रे विश्रान्तिमृते नाऽत्राऽस्ति साधनम् ॥३।६।४॥

स्वरूप मुक्ति में तप, ज्ञान व्रत आदि कुछ भी उपकारक नहीं होते। केवल ज्ञानमात्र से स्वरूप में स्थिति होती है। (मुक्ति में तो ज्ञान के सिवाय अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है केवल ज्ञान से मुक्ति होती है किन्तु ज्ञान अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना नहीं होता अतः ज्ञान प्राप्ति के लिए तप, दान व्रत आदि भी करना चाहिए)।

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरतैवाऽत्र कारणम्।
साधनं बाधनं मोहजालस्य यदकृत्रिमम् ॥३।६।५॥

साधु संगम और सत्शास्त्र ही परमात्मा की प्राप्ति में कारण है। अज्ञान से होनेवाला मोहजाल ही स्वरूप प्राप्ति

में बाधक होता है। उसका साधन एकमात्र साधु संग और सत् शास्त्र ही है।

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना।
स देवो ज्ञायते राम न तपः स्नानकर्मभिः ॥३।६।६॥

हे रामजी ? अपने वेदान्त श्रवणादि पौरुषप्रयत्न से उत्पन्न हुए विवेक के विकास से ही उस देव का ज्ञान हो जाता है। तप-स्नान आदि कर्म से नहीं।

रागद्वेषतपःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम्।
विना राम तपो दानं क्लेश एव न वास्तवम् ॥३।६।१०॥

हे राम ? राग, द्वेष, तम, क्रोध, मद मात्सर्य वर्जन के बिना जो तप दानादि किया जाता है वह वास्तव में क्लेश-मात्र है।

रागाद्युपहते चित्ते वञ्चयित्वा परं धनम्।
यदर्ज्यंते तस्य दानाद्यस्याऽर्थाः तस्य तत्फलम् ॥३।६।११॥

रागादि से युक्त चित्त से दूसरे को ठगकर जो धन अर्जित किया जाता है उसका दान करने से उसीको फल मिलता है ठगने वाले को दान का पुण्य नहीं होता।

यथासंभवया वृत्त्या लोकशास्त्रविरुद्धया।
सन्तोषसन्तुष्टमना भोगगन्धं परित्यजेत् ॥३।६।१६॥

लोक और शास्त्र से विरुद्ध यथायोग्य अपने कुल परम्परा

से प्राप्त जो वृत्ति उसी में सन्तुष्ट होकर भोगवासना का त्याग करना चाहिए।

यथासम्भवमुद्योगादनुद्विग्नतया स्वया।
साधुसंगमसच्छास्त्रपरतां प्रथमं श्रयेत ॥३।६।१७॥

अनुद्विग्न चित्त से अपने हित के लिए यथासम्भव अपने शक्ति के अनुसार सबसे प्रथम उद्योग साधुसंगम और सत् शास्त्र का आश्रय ही लेना चाहिए।

यथाप्राप्तार्थसन्तुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते।
साधुसंगमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं समुच्यते ॥३।६।१८॥

प्रारब्धानुकूल जो प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रह कर एवं निन्दित व्यक्तियों से अलग रहकर साधुसंगम और सत्-शास्त्र का जो आश्रय लेता है वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

देशे यं सुजनप्रायाः लोकाः साधुं प्रचक्षते।
स विशिष्टः स साधुः स्यात्तं प्रयत्नेन संश्रयेत् ॥३।६।२०॥

जिस देश में श्रुति स्मृति से प्रतिपादित सदाचार में निष्ठ—(लगे हुए) सज्जन लोग जिसको साधु कहते हैं। उस उस साधु का प्रयत्न से आश्रयण—(शरण) लेना चाहिए।

अध्यात्मविद्या विद्यानां प्रधानं तत्कथाश्रयम्।
शास्त्रं सच्छास्त्रमित्याहुर्मुच्यते तद्विचारणात् ॥३।६।२१॥

संपूर्ण विद्याओं में प्रधान—(मुख्य) अध्यात्मविद्या (आत्मानं शरीरं अधिकृत्य तिष्ठतीति अध्यात्मं) शुद्ध आत्मा

का बोध करानेवाले शास्त्र ही सत् शास्त्र कहे जाते हैं। जैसे उपनिषद्, सूत्रभाष्य, गीता योगवाशिष्ठ आदि इन अध्यात्म विषयों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का नाम ही सत्-शास्त्र हैं। इनके विचार से मनुष्य संसार से छूटकर मुक्त हो जाता है।

य एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठतें।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥३।७।२॥

हे रामजी ? जिस देव का वर्णन किया गया है वह कहीं दूर नहीं है इसी शरीर में स्थित नित्य चिन्मात्र से सुना जाता जाता है। भान यह है चिन्मात्र वस्तु बाहर भीतर तमाम व्यापक है (वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव वा) किन्तु इसी शरीर में उसकी प्राप्ति होती है। इसीलिए शरीरी संस्थितः यह कहा गया है।

एष सर्वमिदं विश्वं न विश्वं चैष सर्वगः।
विद्यते ह्येष एवैको न तु विश्वाभिधाऽस्ति दृक् ॥३।७।३॥

यही उपर कहा हुआ चिन्मात्र पदार्थं ही देवाधिदेव है। जो समस्तविश्व में व्यापक है। सबका अधिष्ठान है केवल विश्वका द्रष्टा ही नहीं है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते सर्वकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥३।७।१०॥

उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात् होने पर हृदयग्रन्थि

(जड़ चेतन में एकता की प्रतीति) टूट जाती है और संशय (शरीर से आत्मा अलग होने पर भी आत्मा से परमात्मा में भेद है कि नहीं अभेद होने पर भी आत्मा और परमात्मा का ज्ञान कर्म से या उपासना से अथवा ज्ञान से उसका बोध कैसे होता है) क्षीण हो जाता है। और जन्मजन्मान्तर के संचित कर्मों का समूह नष्ट हो जाता है।

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः।
निमेषेणैव यन्मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥३।७।१९॥

एक देश से दूसरे देश में प्राप्त होनेवाला जो संवित (ज्ञान का रूप) देश और देशान्तर इसके मध्य में जो स्वरूप है वही परमात्मा का स्वरूप है। अर्थात् व्याप्त चिन्मात्रस्वरूप ही उसका स्वरूप है।

अत्यन्ताभाव एवाऽस्ति संसारस्य यथास्थितेः।
यस्मिन्बोधमहाम्भोधौ तद्रूपं परमात्मनः ॥३।७।२०॥

बोधरूप महासमुद्र में यथास्थित संसार का अत्यन्ताभाव ही उस परमात्मा का स्वरूप है। अर्थात् जिसके ज्ञान से यह संसार मिथ्या प्रतीत होने लगे वहीं उसका स्वरूप है।

जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासम्भवं विना।
बुध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केनचित् ॥३।७।२१॥

हे रामजी ? यह दृश्य जगत की सत्ता का जबतक अभाव प्रतीत न हो जाय तब तक कोई भी किसी प्रकार से इस परम् तत्त्व को नहीं जान सकता है।

श्रीराम उवाच

इयतो दृश्यजातस्य ब्रह्माण्डस्य जगत्स्थितेः।
मुने कथं सत्ताऽस्ति क मेरुः सर्षपोदरे ॥३।७।३२॥

हे भगवन ? इतने बड़े विशाल ब्राह्मण्डरूपा दृश्य जगत की अत्यन्त सूक्ष्म इस आत्मतत्त्व में असत्ता कैसे होगी क्या कहीं सर्षप—सरसों के पेट में मेरु हो सकता है अर्थात् जैसे सरसों के पेट में मेरु नहीं हो सकता वैसे ही सूक्ष्म परब्रह्म में इतना बड़ा स्थूल ब्रह्माण्ड की सत्ता कैसे होगी।

श्री वसिष्ठ उवाच

दिनानि कतिचिद्राम यदि तिष्ठस्य खिन्नधोः।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमस्तदहं क्षणाद् ॥३।७।३३॥

हे रामजी ? यदि कुछ दिन तक अखिन्नधी सावधानी से साधु संग और सत् शास्त्रों के अभ्यास में परायण होंगे।

प्रमाजयामि ते दृश्यं बोधे मृगजलं यथा।
दृश्याभावे द्रष्ट्रिता च शाम्येद् बोधोऽवशिष्यते ॥३।७।३४॥

तो मृग तृष्णा में जल के समान तो दृश्य सारा जगत क्षण में नाश हो जायगा। दृश्य के अभाव होने पर द्रष्टा का भी अभाव हो जायगा केवल बोध ही अवशिष्ट रह जायगा ऊपर के श्लोक से इसका सम्बन्ध है।

जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदं दृश्यते ततम्।
तत्स्वात्मन्येव विमले ब्रह्मचित्वात्स्वबृंहितम् ॥३।७।३६॥

हे राम जी इतना बड़ा जो यह जगत दिखाई देता है यह कभी उत्पन्न हो नहीं हुआ चिन्मात्र निर्मल शुद्ध ब्रह्म में ही यह कल्पित है। उस ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त इसकी सत्ता ही कुछ नहीं है। जैसे रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प को रस्सी से भिन्न कोई सत्ता नहीं होती।

आदावेव हि नोत्पन्नं यत्तस्येहाऽस्तिता कुतः।
कुतो मरौ जलसरिद्द्वितीयेन्दौ कुतो ग्रहः ॥३।७।४२॥

जो पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ उसका यहां अस्तित्व कैसे हो सकता है। मरुस्थल में जलपूर्ण नदी की सत्ता कैसी एवं द्वितीय चन्द्रमा में ग्रहत्व कैसे हो सकता है।

यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मैव निरामयम्।
एतत्पुरस्तात् वक्ष्यामि युक्तितो न गिरैव च ॥३।७।४४॥

हे रामजी यह जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब निर्मल ब्रह्म ही है। इसको मैं आगे चलकर युक्तियों से और आख्यानों के द्वारा उपदेश करुँगा।

यन्नामयुक्तिभिरिह प्रवदन्ति तज्ज्ञा-
स्तत्राऽवहेलनमयुक्तमुदारबुद्धे।
यो युक्तियुक्तमवमत्य विमूढबुद्धिः
कष्टाग्रहो भवति तं विदुरज्ञमेव ॥३।७।४५॥

हे उदार बुद्धे ? तत्वज्ञ पुरुष जिस बात को युक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं उसकी उपेक्षा करना युक्तियुक्त नहीं है।

जो मूढबुद्धि युक्तियुक्त तत्व का अनादर करता है और युक्तिशून्य वस्तु में आग्रह करता है उसको विद्वान लोग अज्ञ कहते हैं।

बहुकालमियं रुढा मिथ्या ज्ञानं विषूचिका।
जगन्नाम्न्यविचाराख्या बिना ज्ञानं न शाम्यति ॥३।८।२॥

हे रामजी ? यह मिथ्या ज्ञानरूपी विषूचिका (रोग विशेष) बहुत काल से बद्धमूल हो गयी है। इसी का नाम जगत और अविचार है। यह बिना ज्ञान के शान्त नहीं हो सकती।

वदाम्याख्यायिका राम या इमा बोधसिद्धये।
ताश्चेच्छृणोसि तत्साधो मुक्त एवाऽसि बुद्धिमान् ॥३।८।३॥

मैं आपसे बोध प्राप्ति के लिए विविध आख्यायिकायें कहूँगा। यदि आप सुनेंगे अवश्य मुक्त हो जावेंगे।

नो चेदुद्वेगशीलत्वादर्द्धादुत्थाय गच्छसि।
तात्तर्यग्धर्मिणस्तेऽथ न किञ्चिदपि सेत्स्यति ॥३।८।४॥

यदि उद्विग्न होने के कारण नहीं सुनेंगे बीच से ही उठकर चले जायँगे तो पशुओं की तरह सत् शास्त्र के श्रवण से अयोग्यता होने के कारण आपको कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी। ऊपर के श्लोक से इसका सम्बन्ध है।

योऽयमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥३।८।५॥

जो जिस वस्तु को चाहता है उसके लिए वैसा ही प्रयत्न करता है उसे वह पदार्थ अवश्य प्राप्त हो जाता है। यदि थक करके बीच में न छोड़ दे।

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरो भवसि राम चेत्।
तद्दिनैरेव नो मासैः प्राप्नोषि परमं पदम् ॥३।८।६॥

हे राम जी साधु संग और सत शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर हो जाय तो कुछ महीने नहीं कुछ दिन में ही परमपद की प्राप्ति हो जावेगी।

आत्मज्ञानप्रधानानामिदमेव महामते।
शास्त्राणां परमं शास्त्रं महारामायणं शुभम् ॥३।८।८॥

शास्त्रों में कौन शास्त्र प्रधान है राम जी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बोले हे महाबुद्धिमान् रामजी ? आत्मज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में यह महारामायण शास्त्र ही प्रधान है। इसके श्रवण से बोध हो जाता है।

यह शास्त्र संपूर्ण इतिहासों का सार है ("सर्वेषामितिहासानामयं सार उदाहृतः"।

स्थितमेवाऽस्तमायाति जगद्दृश्यं विचारणात्।
यथा स्वप्ने परिज्ञाते स्वप्नादावेव भावना ॥३।८।११॥

जैसे स्वप्न में यह स्वप्न है ज्ञान हो जाय तो स्वप्न निवृत्त हो जाते हैं। उसी तरह से शास्त्र के विचार से यह सारा दृश्य जगत् अस्त हो जाता है।

यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न तत् क्वचित् ।
इमं समस्तविज्ञानं शास्त्रकोशं विदुर्बुधाः ॥३।८।१२॥

आत्मबोध के लिए जो-जो युक्तियां इस ग्रन्थ में है वे अन्य ग्रन्थ में भी है और जो यहाँ नहीं है वे कहीं नहीं है। इसलिए विद्वान् लोग इसको शास्त्ररूपी धनों का कोशगृह कहते हैं।

श्रूयमाणे हि शास्त्रेऽस्मिन् श्रोता वेत्ति तदात्मना ।
यथावदिदमस्माभिः ननूक्तं वरशापवत् ॥३।८।१६॥

इस शास्त्र के सुनने पर श्रोता आत्मस्वरूप का अनुभव करता है। यह जो मेरे द्वारा कहा गया है वह वर और शाप के समान ठीक ही है।

तच्चिन्तास्तत्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तं नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥३।९।१॥

जिनका आत्मा में ही चित्त है जिनका आत्मा में हो प्राण है जो नित्य परस्पर आत्मा का ही बोध कराते हैं जो आत्मा में ही रमण करते हैं।

तेषां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या ॥३।९।२॥

उनको ज्ञानैकनिष्ठा में ही जो लोग हैं ऐसे आत्म ज्ञान के विचार करने वाले को जीवन्मुक्तता उदय हो जाती है। शरीर छूटने पर वो मुक्त हो जाते हैं।

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥३।६।४॥

रामजी के विदेह मुक्ति और जीवन मुक्ति क्या है इस प्रश्न का उत्तार देते हुए वशिष्ठ जो कहते हैं हे राम जी ? व्यवहार करते हुए भी परमार्थ स्वरूप में स्थित जिसको जगत का मान नहीं होता शून्यआकाश की तरह अपने को अनुभूत करता है वह जीवन्मुक्त है।

बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत्।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥३।६।५॥

जो अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण जगत में भी सुषुप्तवत् है वह व्यवहार करता हुआ भी व्यवहार से असङ्गतानुभव करता है वह जीवन्मुक्त है।

नोदेति नाऽस्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा।
यथा प्राप्तस्थितेः यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥३।६।६॥

सुख प्राप्त होने पर जिसके मुख की कान्ति विकसित नहीं होती और दुःख प्राप्त होने पर भी जिसकी कान्ति मलिन नहीं होती सुख दुख दोनों अवस्था में एक समान रहता है उसका नाम जीवन्मुक्त है।

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।६।७॥

अविद्या रूप सुषुप्ति में जागता है, जो और अपने स्वरूप

में जागरूक है और जिसका ज्ञान वासना से रहित है वह जीवन्मुक्त है।

रागद्वेषभयाऽऽदीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।६।८॥

महाराग द्वेष आदि का यथा योग्य नट के समान आचरण करता हुआ भी भीतर आकाश की तरह अत्यन्त स्वच्छ निर्विकार आत्मा में स्थित है वह जीबन्मुक्त कहलाता है।

अहं हि हेमकटके विचार्याऽपि न दृष्टवान्।
कटकत्वं क्वचिन्नाम ऋते निर्मलहाटकात् ॥३।६।३१॥

हे राम जी ? विचार करने पर भी सुवर्ण में कटककुण्डल आदि नाम वाली कोई वस्तु नहीं दिखाई देती। केवल सुवर्ण मात्र ही दिखाई पड़ता है।

जैसे जल और तरङ्ग में जल के सिवाय तरङ्ग नाम की कोई वस्तु नहीं है जैसे वायु से भिन्न अस्पन्द नाम की कोई वस्तु नहीं है उसी तरह ब्रह्म से भिन्न जगत नाम की कोई वस्तु नहीं है। केवल ब्रह्म ही है। आगे के श्लोकों से इसका सम्बन्ध है।

तस्मादभ्यासयोगेन युक्तया न्यायोपपत्तिभिः।
जगद्भ्रान्तिर्यथा शाम्येत् तदेवं कथ्यते शृणु ॥३।६।४१॥

हे राम जी ? अभ्यास योग, युक्ति और दृष्टान्त से यह जगद भ्रान्ति जैसे शान्त हो जाय वैसा मैं कहता हूँ आप सुने।

इस जगत की उत्पत्ति और प्रलय जो शास्त्रों में वर्णित है। वह यथार्थ नहीं है अज्ञानियों के द्वारा दृष्टि जगत् का अनुमान मात्र है ? वस्तुतः यह सब ब्रह्म में विवर्त मात्र है। इस पर राम जी बोले।

श्री राम उवाच

वन्ध्यापुत्रो व्योमवनं नैवाऽस्ति न भविष्यति।
कीदृशी दृश्यता तस्य कीदृशी तस्य नाऽस्तिता ॥३।११।३॥

हे भगवन् बन्ध्यापुत्र और आकाश वन ये तो पहले कभी नहीं था इस समय भी नहीं है आगे भी नहीं होंगे। फिर इसकी दृश्यता कैसे। और प्रलय में नाश कैसा। अर्थात् जो वस्तु है नहीं उसकी उत्पत्ति और प्रलय कैसे ?

श्री वसिष्ठ उवाच

वन्ध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्तः कदाचन।
जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नाऽस्ति कदाचन ॥३।११।४॥

हे राम जी ? जैसे वन्ध्यापुत्र और व्योमवन की त्रिकाल में भी सत्ता नहीं है। उसी तरह से सम्पूर्ण जगत दृश्य की भी सत्ता नहीं है।

न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्किलादौ न विद्यते।
उत्पत्तिर्कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥३।११।५॥

हे राम जी ? यह जगत् न उत्पन्न हुआ है न विनाशी ही है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं उसकी उत्पत्ति कैसी फिर उसके विनाश की कथा ही व्यर्थ है।

स्वप्न में स्वप्न देखने वाले पुरुष के अन्तःकरण में जो स्वाप्निक जगत् की भ्रान्ति होती है। वह जैसे संवित का विकाश मात्र हो है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म में यह जगत् विकाश मात्र है। ब्रह्म से भिन्न जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है।

यथा द्रवत्वं सलिलं स्पन्दनं पवनो यथा।
यथा प्रकाश आभासो ब्रह्मैव त्रिजगत्तथा ॥३।११।१६॥

जैसे द्रवत्व जल है जैसे स्पन्दन वायु है जैसे प्रकाश आभास है वैसे ही यह त्रिजगत् (तीनों लोक) ब्रह्म ही है। ब्रह्म में इसमें कोई अन्तर नहीं है।

तस्याः शक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम्।
एतज्जालमसद्रूपं सदिवोदेति विस्फुरत् ॥३।१२।११॥

उस परा सत्ता की यह शक्ति है स्वसंवेदन मात्र रूप यह प्रकाशवान् असदात्मक दृश्य प्रपञ्च सत को तरह उदित होता है (प्रतीत होता है)। इस प्रतीति से उसमें कोई विकार नहीं होता। क्योंकि स्वसंवेदनमात्र ही है।

परमाणौ परमाणौ सन्ति वत्से चिदात्मनि।
अन्तरन्तर्जगन्तीति किन्त्वेतन्नाम शंक्यते ॥३।२०।२६॥

परमाणु रूप चिदात्मा में भीतर-भीतर अनन्त जगत् विद्यमान है फिर उस चिदात्मा में उस ब्रह्म का घर है ऐसी

शंका क्यों करती हो जब परमाणु में ही ब्रह्माण्ड है। इस प्रसङ्ग की लीला की कथा से सम्बन्ध है वहाँ देखना चाहिए।

देशदैर्घ्यं यथानाऽस्ति कालदैर्घ्यं तथाङ्गने।
नास्त्येति यथान्यायं कथ्यमानं मयाशृणु ॥३।२०।२८॥

हे पुत्रि जैसे देश का दैर्घ्य नहीं है वैसे—काल का भी दैर्घ्य नहीं है। इस विषय को युक्ति से तुमसे कहती हूँ साव-धानी से सुनो।

यथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्वावभासनम्।
तथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम् ॥३।२०।२९॥

जैसे यह जगत प्रतीतिमात्र है वैसे ही यह क्षण कल्प आदि काल भी कल्पनामात्र ही है। वास्तविक नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत त्वं अहं इत्यादि अध्यास के आधीन जन्मादि सब भ्रम से प्रतीत होता है। इस प्रतीति के क्रम को यथार्थ रूप से कहूँगी।

अनुभूयक्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्छनम्।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रते ॥३।२०।३१॥

हे सुव्रते? जब जीव क्षणमात्र मिथ्याभूत मरण मूर्छा को अनुभव करके पहले प्राक्तन—(पूर्वजन्म) के पदार्थों को भूलकर अन्य पदार्थों को देखता है उसी समय अपने को
भूलकर अन्य पदार्थों को देखता है उसी समय अपने को

भिन्नरूप से देखने लगता है। अर्थात् वासनामय आगामी स्वरूप को देखता है पूर्व के स्मृति को भूल जाता है।

हस्तपादादिमान् देहो ममाऽयमिति पश्यति।
यदेव चेतसि वपुस्तदेवेदं स पश्यति ॥३।२०।३३॥

मरण की मूर्छा छूटने पर चित्त में जैसा संस्कार होता है वैसा ही हस्त पादादि से सम्पन्न रूप देखने लगता है, मैं हूँ ऐसा मानने लगता है और पूर्व शरीर विस्मृत हो जाता है।

एतस्याऽहं पितुः पुत्रो वर्षाण्येतानि सन्ति मे।
इमे मे बान्धवा रम्या ममेदं रम्यमास्पदम् ॥३।२०।३४॥

मैं अमुक पिता का पुत्र हूं इतने वर्ष बीत गए, ये मेरे भाई बन्धु हैं, यह हमारा सुन्दर घर है, ये हमारे सदृश ही विचरण करते हैं। आगे के श्लोक से सम्बन्ध है।

दिक्कालकलनाऽऽकाशधर्मकर्ममयानि च।
परिस्फुरन्त्यनन्तानि कल्पान्तस्थैर्यवन्ति च ॥३।२१।२॥

सुषुप्ति से जागने पर जैसे सारा जगत दिखाई देने लगता है उसी प्रकार मृत्युरूप मोह के अनन्तर संपूर्ण जगत, देश, काल, आकाश, धर्म कर्म और प्रलयपर्यंन्त स्थिर रहने वाली पृथ्वी आदि यह सारा जगत् गन्धर्व नगर के समान आविर्भूत हो जाते हैं।

एतावन्तं चिरं कालमेते देवि वयं वद।
भ्रमिताः केन नामापि द्वैताऽद्वैतविकल्पनैः ॥३।२१।६६॥

लीला बोली हे देवि हमलोगों को इतने काल तक द्वैत अद्वैत आदि विविध विकल्पों के भ्रम में किसने डाल रखा है।

देव्युवाच

अविचारेण तरले भ्रान्ताऽसि चिरमाकुला ।
अविचारः स्वभावोऽत्थः स विचाराद्विनश्यति ॥३।२१।७०॥

हे चंचले अविचार के कारण चिरकाल से भ्रान्त हो। अविचार स्वभाव से उत्पन्न होता है। और विचार से उसका नाश हो जाता है।

यथास्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहः प्रशाम्यति ।
वासनातानवात् तद्वज्जाग्रद् देहोऽपि शाम्यति ॥३।२२।२॥

जैसे निद्रा के नष्ट होने से स्वप्न देह लापता हो जाता है वैसे वासना के क्षीण होने पर जाग्रत देह (स्थूल देह) शान्त हो जाता है।

स्वप्नसङ्कल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा।
तथा जाग्रद्भावनान्ते उदेत्येवाऽऽतिवाहिकः ॥३।२२।३॥

जैसे स्वप्न में प्रतीयमान स्वप्न का देह स्वप्न के नाश होने पर नाश हो जाता है। और जाग्रत देह का भान होने लगता है। वैसे ही जाग्रत भावना का समूल उच्छेद होने पर जाग्रत देह नष्ट हो जाता है। और आतिवाहिक (सूक्ष्म) देह उदित होता है।

जीवन्मुक्तों को भी वासना है क्योंकि बिना वासना के आहारादि व्यवहार कैसे चल सकेगा। इसका उत्तर है—

येयं तु जीवन्मुक्तानां वासना सा न वासना।
शुद्धसत्त्वाभिधानं तत्सत्तासामान्यमुच्यते ॥३।२२।५॥

जो यह जीवन्मुक्त में वासना प्रतीत हो रही है वह वासना नहीं है। यह शुद्ध सत्त्व नाम की वासना की सत्ता (प्रतीति) मात्र है। जैसे जले हुए कपड़े का नाम भी कपड़ा ही है।

या सुप्तवासना निद्रा सा सुषुप्तिरिति स्मृता।
यत्सुप्तवासनं जाग्रद् घनोऽसौ मोह उच्यते ॥३।२२।६॥

जिस निद्रा में वासना उद्भूत नहीं होती उसका नाम सुषुप्ति है और जिस जागरण में वासना का आविर्भाव नहीं होता उसको घनमोह (मूर्च्छा) कहते हैं।

प्रक्षीणवासना निद्रा तुर्यशब्देन कथ्यते।
जाग्रत्यपि भवत्येव विदिते परमे पदे ॥३।२२।७॥

जिसमें वासना अत्यन्त क्षीण हो गयी है ऐसी निद्रातुर्य शब्द से कहीं जाती है। परमपद के प्राप्त होने पर यह जाग्रत् में भी बनी रहता है।

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।२२।८॥

जीवितावस्था में ही जिसकी सारी वासना क्षीण हो

गयी है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। इसको अज्ञानी पुरुष नहीं जान पाते।

यदा तेऽयमहं भावः स्वाभ्यासाच्छान्तिमेष्यति।
तदोदेस्यति ते स्फारा दृश्यान्ता बोधता स्वयम् ॥३।२२।११॥

अपने आत्मा के अभ्यास से जब तुम्हारा अहङ्कारभाव शान्त हो जायगा तब तुम्हारी स्वाभाविक चिद्रूपता जो कि दृश्य प्रपञ्च की चरम सीमा है उदित हो जायगी (बोध हो जायगा)।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥३।२२।२४॥

एकान्त में आत्मा का चिन्तन करना और उसी का कथन एवं श्रवण करते रहना सदा उसी में मनोयोग देने का नाम विद्वानों ने अभ्यास कहा है।

दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माऽभ्यास उदाहृतः ॥३।२२।२६॥

दृश्य प्रपञ्च असम्भव है ऐसा बोध होने पर रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। और तब आत्मा में रति होती है। इसका नाम भी ब्रह्माभ्यास है।

दृश्यासम्भव बोधेन बिना द्वेषादितानवम्।
तप इत्युच्यते तस्मात् न ज्ञानं तच्च दुःखदम् ॥३।२२।२७॥

दृश्य ज्ञान के असम्भव हुए बिना जो राग द्वेष कम होना

है उसका नाम तप हैं। वह तप से ज्ञान नहीं होता है। उस तप से बल्कि दुःख ही होता है।

दृश्यासम्भव बोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥३।२२।३१॥

दृश्य का असम्भव बोध का नाम ही ज्ञान है उसी का नामज्ञेय भी है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय के अभेद बोध का अभ्यास से निर्वाण—(मुक्ति) होती है। इस अभ्यास का फल महान् अभ्युदय है।

स्वप्ने नगरमूर्वी वा शून्यं खातं च बुद्ध्यते।
स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याऽप्यर्थक्रियां नृणाम् ॥३।२६।४८॥
खं पृथ्व्यादितया बुद्धं पृथ्व्यादि भवति क्षणात्।
मूर्च्छायां परलोकोऽपि प्रत्यक्षमनुभूयते ॥३।२६।४६॥

स्वप्न अवस्था में नगर शून्य प्रतीत होता है और पृथिवी गर्त रूप में प्रतीत होने लगती है। असत स्त्री भी अर्थ क्रिया में (भोग में) सत् प्रतीत होती है। आकाश दृथ्वी के रूप में प्रतीत होने लगता है और आकाश क्षण भर में पृथ्वी हो जाता है। मूर्छावस्था में किसी को परलोक भी प्रत्यक्ष अनुभूत होने लगता है।

बोधो हि चेतति यथैव तथाऽऽशु भाति
सूक्ष्मस्तु खादपि तथाऽतितरां विशुद्धः।
सर्वत्र राघव स एव पदार्थजालं
स्वप्नेषु कल्पितपुरेष्वनुभूतमेतत् ॥३।२६।५७॥

हे राम जी यह बोध (बुद्धि) जैसे पदार्थ का चिन्तन करती है वैसा ही पदार्थ शीघ्र भासित होता है। बुद्धि यद्यपि आकाश से भी सूक्ष्म है और अत्यन्त शुद्ध है किन्तु बुद्धि ही सब पदार्थों का समूह है। स्वप्न में और कल्पित नगरों में यह अनुभूत होती है।

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
विध्येतत्त्रयमेकं त्वमविना भावनावशात् ॥३।४०।१६॥

चित्ताकाश चिदाकाश और महाकाश इन तीनों को एक ही जानों। क्योंकि अधिष्ठान के बिना इनका स्फुरण नहीं हो सकता अधिष्ठान सत्ता से भिन्न स्फुरण की सत्ता नहीं हो सकती यह नियम है।

एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ।
रञ्चयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम् ॥३।४२।२४॥

इस प्रकार यह सारा जगत जाग्रत और स्वप्न प्रपञ्च सत्य नहीं है किन्तु अधिष्ठान की सत्ता से सत्यवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न स्त्री संगम मिथ्या होने पर भी जीव को सुरत में सत्य की भाँति ही मोहित करती है।

पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदाऽन्यत् किं पुमान् भवेत् ॥३।५४।६८॥

चेतना मात्र ही पुरुष है वह कब और कहाँ नष्ट होता है यदि पुरुष को चेतना से भिन्न मानो तो कहिए क्या देह,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार अथवा इनके अधिष्ठाता देवता इत्यादि क्या चेतना होगा। अर्थात् ये सब चेतना नहीं होगें पुरुष ही चेतना है।

वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत्स्वयम्।
तस्यैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते ॥३।५४।७१॥

जीव जो जन्म मरण का अनुभव करता है वह केवल वासना मात्र है उस वासना के ही दो नाम है जीवन और मरण।

एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न च कश्चन।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम् ॥३।५४।७२॥

इस प्रकार न तो कोई जीव मरता है और न कोई उत्पन्न होता है केवल वासनारूपी जल भँवर के गर्त में गिरता रहता है।

येन येन यथा यद्यद्यदासंवेद्यतेऽनघ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥३।६०।१६॥

हे अनघ–निष्पाप ! जिस जिस पुरुष को जिस समय जिस जिस पदार्थ में जैसी जैसी प्रतीति होती है वह पुरुष तत् तत् पदार्थ को वैसा वैसाही अनुभव करता है, जैसे विष के कीड़े को विष ही जीवन होता है।

निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥३।६०।२०॥

जैसे किसी को एक निमेष–क्षण में कई कल्प का अनुभव होता है उस भेदि निमेष ही कल्प होता है।

कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः।
निमेषी भवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥३।६०।२१॥

जिसको क्षण में कल्प प्रतीत होता है उसको क्षण ही कल्प हो जाता है और जिसको कल्प में क्षण प्रतीत होता है उसको कल्प ही क्षण होता है इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे कि—

दुःखितस्य निशाकल्पः सुखितस्यैव च क्षणः।
क्षणःस्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः ॥३।६०।२२॥

दुःखी व्यक्ति को रात्रि कल्प के समान प्रतीत होती है और वही रात्रि सुखी को क्षण क्षण के तुल्य मान होती है एवं स्वप्न में एक क्षण कल्प बन जाता है और एक कल्प क्षण हो जाता है।

एवमेकपरं वस्तु राम नानात्वमेत्यलम्।
नानात्वमिव संजातं दीपाद्दीप शतं यथा ॥३।६६।१॥

हे राम जी जैसे एक दीप से सैकड़ों दीप बनकर नानात्व प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही एक अद्वितीय पर वस्तु नानात्व को प्राप्त हो जाती है।

चित्तमात्रं नरस्तस्मिन् गते शान्तमिदं जगत्।
उपानद् गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥३।६६।३॥

यह पुरुष चित्तमात्र है, चित्त शान्त होने पर जगत शान्त हो जाता है, जैसे जिस पुरुष के चरण जूते से आवृत्त है वह समझता है कि सारी पृथिवी ही चमड़े से आवृत्त है वैसे ही जिसका चित छुटकारा पा जाता है उसकी दृष्टि में जगत् का अभाव ही हो जाता है।

पत्रमात्रादृते नाऽन्यत्कदल्या विद्यते यथा।
भ्रममात्राऽऽदृते नान्यज्जगतो विद्यते तथा ॥३।६६।४॥

जैसे केले के वृक्ष में पत्तों को छोड़कर और कुछ नहीं रहता। वैसे ही जगत् केवल भ्रम को छोड़कर और कुछ नहीं हैं।

यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः ॥३।६६।१६॥

यदि आप सबको त्यागकर वासनामय चित्त से रहित हो जाय तो एक ही पलक में मुक्त हो जायेंगे। इसमें संशय नहीं है।

यत्राऽभिलाषः तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवाङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम् ॥३।६६।२१॥

जिन वस्तुओं में अभिलाषा है उन वस्तुओं को त्याग कर सके तो मनुष्य मुक्त ही है। इसमें कौन सी बड़ी दुष्कर बात है।

अपि प्राणस्तृणमिव त्यजन्तीह महाशयाः।
यत्राऽभिलाषस्तन्मात्रत्यागे कृपणता कथम् ॥३।६६।२२॥

महापुरुष अपने प्राणों को भी तृण के समान त्याग देते हैं तो अभिलाषा मात्र के त्यागने में क्या कृपणता है।

श्रीराम उवाच

असंभवादसंविदोर्ब्रह्मात्मैकतयाऽथवा ।
को मोक्षः को विचारश्चेत्यलं भेदविकत्थनैः ॥३।६७।५६॥

राम ने कहा जब अज्ञान असम्भव है और ब्रह्मत्मैकत्व स्वतः सिद्ध है। तो क्या मोक्ष है क्या विचार है। अर्थात् अज्ञान है ही नहीं और मोक्ष स्वयं सिद्ध है तब विचार का क्या प्रयोजन है।

श्री वसिष्ठ उवाच

सिद्धान्तकाल एवैष प्रश्नस्ते राम राजते ।
अकालपुष्पमाला हि शोभनाऽपि न शोभते ॥३।६७।६०॥

हे रामजी ? सिद्धान्तकाल में तो आपका प्रश्न सुशोभित हो रहा है। अकाल में उत्पन्न पुष्पों की माला तो सुन्दर होती हुई भी शोभित नहीं होती।

भाव यह है जिसको वस्तु तत्व का बोध हो गया है उसके लिए विचार तो अनर्थक है हो किन्तु जिसको तत्व बोध नहीं हुआ है उसके प्रति तो यह प्रश्न ही नहीं बन सकता।

योऽयं चित्तस्य चिद्भागः सैषा सर्वार्थबीजता ।
यश्चाऽस्य जड़भागश्च तज्जगत्सोऽङ्ग संभ्रमः ॥३।८४।३६॥

चित्त के दो अंश है। एक द्रष्टा रूप सब कल्पनाओं का बीज अहमता है और दूसरा जडांश जो दृश्यरूप है। उसमें जो यह चित्त का चैतन्य अंश है वह ही सम्पूर्ण पदार्थों का बीज है और जो जड़भाग है वह ही जगत है और वह ही भ्रम है।

यथा प्राप्तं हि कर्तव्यमसक्तेन सदा सता।
मुकुरेणाऽकलङ्केन प्रतिबिम्बक्रिया यथा ॥३।८८।११॥

सत्पुरुषों को चाहिए कि आसक्ति रहित होकर सदा यथा प्राप्त कर्तव्य (कर्म) को करें जैसे निर्मल दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहण क्रिया करता है।

यथैव कर्मकरणे कामना नाऽस्ति धीमताम्।
तथैव कर्मसंत्यागे कामना नास्ति धीमताम् ॥३।८८।१२॥

ज्ञानियों को जैसे अप्राप्त करने में कामना नहीं वैसे प्राप्त कर्म को त्यागना भी कामना नहीं। अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य में दोनों में समान रहते हैं।

श्रीराम उवाच

अविसंवादिनार्थे यद्यत् प्रामाणिकदृष्टिभिः।
वीतरागैर्विनिर्णीतं तच्छास्त्रमिति कथ्यते ॥३।६५।१४॥

जो भ्रम से रहित श्रुतिमूलक प्रामाणिकों वीतराग मनु आदि महापुरुषों से निर्णीत अलौकिक वस्तु के विषय में जो प्रमाण है उसी को शास्त्र कहते हैं।

महासत्त्वगुणोपेता ये धीराः समदृष्टयः ।
अनिर्देश्यकलोपेताः साधवस्त उदाहृताः ॥३।९५।१६॥

जो विशुद्ध सत्त्व से युक्त है, दुखों से जो विचलित नहीं होते । समान दृष्टि वाले और अनिर्देश्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म की साक्षात्कार कला से सम्पन्न है उन्हीं का नाम साधु है ।

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
सङ्कल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥३।९६।३॥

हे रामजी ? सर्वशक्तिमती मायारूपी शक्ति से युक्त आत्मा का प्रथम रचित जो संकल्प शक्तिवाला रूप है उसी को मन कहते हैं ।

भावः सदसतोर्मध्ये नृणां चलति यश्चलः ।
कलनोन्मुखतां यातस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥३।९६।१॥

जो सत् एवं असत् दोनों वस्तुओं को निर्णय करने में जो चंचल है (अर्थात् सत है यह भी निर्णय नहीं करता एवं यह वस्तु असद् है यह भी निर्णय नहीं करता दोनों पक्ष में जो चञ्चल है । उस कलनोन्मुखता प्राप्त रूप को ज्ञानी लोग मन कहते हैं ।

कल्पनात्मिकया कर्म शक्त्या विरहितं मनः ।
न संभवति लोकेऽस्मिन् गुणहीनो गुणी यथा ॥३।९६।६॥

जैसे गुणी गुण से हीन नहीं हो सकता वैसे ही मन भी कल्पनात्मक क्रियाशक्ति से रहित नहीं हो सकता ।

शाश्वतेनैकरूपेण निश्चयेन विना स्थितिः ।
येन सा चित्तमित्युक्ता तस्माज्जातमिदं जगत् ॥३।६६।३६॥

शाश्वत—अविनाशी एकरूप से निश्चय नहीं करने वाली जो आत्मा की स्थिति है उसी को चित्त (मन) कहते हैं। उसी से यह जगत उत्पन्न होता है।

ऊर्णनाभाद्यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः ।
नित्यप्रबुद्धात् पुरुषाद् ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा ॥३।६६।७१॥

जैसे चेतन मकड़ी (जन्तु विशेष) से जड़ तन्तु उत्पन्न होता है वैसे ही नित्यबोध रूप परब्रह्म से प्रकृति (मन) उत्पन्न होता है।

मन एव विचारेण मन्ये विलयमेष्यति ।
मनो विलयमात्रेण ततः श्रेयो भविष्यति ॥३।६७।१०॥

विचार से मन ही लय होता है। और मन के लय होने मात्र से श्रेय प्राप्त हो जाता है।

यतः कुतश्चितदुत्पन्नं चित्तं यत्किञ्चिदेव हि ।
नित्यमात्मविमोक्षाय योजयेद् यत्नतोऽनघ ॥३।६८।१॥

हे अनघ—निष्पाप रामजी ? मन चाहे जिस किसी से उत्पन्न हुआ हो और उसका चाहे जो कुछ स्वरूप हो संसार से छूटने के लिए यत्नपूर्वक आत्मा में सावधान करे। अर्थात् आत्मा में लगा दें।

चित्तायत्तमिदं सर्वं जगत्स्थिरचरात्मकम् ।
चित्ताधीनावतो राम बन्धमोक्षावपि स्फुटम् ॥३।६८।३॥

हे रामजी यह समस्त चराचर जगत् चित्त के अधीन है और बन्धमोक्ष भी चित्त के अधीन ही है यह दोनों बात स्पष्ट है।

चित्तमेतदुपायातं ब्रह्मणः परमात्पदात् ।
अतन्मयं तन्मयं च तरङ्गः सागरादिव ॥३।१००।१॥

हे रामजी ? जैसे समुद्र से उड़े हुए तरङ्ग का भेद भी है उसी तरह से परमपद जो ब्रह्म है उससे उत्पन्न हुआ चित्त का भी भेदाभेद ही प्रतीत होता है।

प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरत् ।
जलसामान्यबुद्धीनामब्धेर्नाऽन्यस्तरङ्गकः ॥३।१००।२॥

हे रामजी ? जैसे जल सामान्यमात्र बुद्धिवाले के लिए समुद्र से भिन्न तरङ्ग नहीं है। वैसे ही ज्ञानियों की दृष्टि में मन भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

सर्वशक्तिर्हि भगवान् यैव तस्मै हि रोचते ।
शक्तिं तामेव विततां प्रकाशयति सर्वगः ॥३।१००।६॥

भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं उनको जब जो शक्ति रुचती है उसी शक्ति को कार्यरूप में प्रकाश करते हैं।

अबद्धो बद्ध इत्युक्त्वा किं शोचसि मुधैव हि ।
अनन्तस्याऽऽत्मतत्वस्य किं कथं केन बध्यते ॥३।१०२।६॥

वास्तव में आप बँधे नहीं किन्तु मैं बँधा हूँ ऐसा समझ कर व्यर्थ ही शोक कर रहे हैं। अनन्त आत्मतत्त्व को किससे कैसे बाँधा जा सकता है।

देहः पततु वोदेतु का नः क्षतिरूपस्थिता।
को नष्टः प्रक्षते पुष्पे आमोदांव्योमसंश्रयः ॥३।१०२।१३॥

देह नष्ट हो अथवा देह का उदय हो इससे हमारी क्या हानि होती है, पुष्प नष्ट होने पर भी आकाश में रहनेवाली सुगन्ध को क्या हानि होती है।

संसारेऽस्मिन विहरतो मनोऽपि हि न नश्यति।
ज्ञानाग्निना विनो जन्तोरात्मनाशे तु का कथा॥३।१०२।१॥

इस संसार में विहार करने वाले (जन्मने मरने वाले) प्राणीं का ज्ञानरूपी अग्नि के बिना मन का भी नाश नहीं होता आत्मा के विनाश का तो कहना ही क्या है?

महोदयो मनो नाशो महोच्छेदस्य तूदयः।
मनोनाशे प्रयत्नं त्वं कुरु मा मनसो जवे ॥३।१०२।३६॥

मन का नाश होना ही परम पुरुषार्थ है, मनोनाश ही दुखों के समूल उच्छेद (विनाश) का कारण है। अतः आप मनोनाश का ही प्रयत्न करो, मन के जय का प्रयत्न न करो

वसिष्ठ उवाच

अस्य चित्त महाव्याधेश्चिकित्साया महौषधम्।
स्वायत्तं शृणु वक्ष्यामि साधु सुस्वादु निश्चितम् ॥३।१११।१

वसिष्ट जी बोले हे राम जी ? चित्तरूपी महाव्याधि के चिकित्सा की महौषधि जो स्वाधीन है उसको मैं कहता हूं आप सुनो, जो अव्यर्थ, सुस्वादु और निर्णीत है।

स्वेनैव पौरुषेणाऽऽशु स्वसंवेदनरूपिणा।
यत्नेन चित्तवेतालस्त्यक्त्वेष्टं वस्तु जीयते ॥३।१११।२॥

वाह्य विषयों को त्यागकर स्वसंवेदन रूप आत्माकारा-कारित वृत्ति रूप प्रवाह में प्रयत्न करने पर चित्तरूप वेताल को जीतकर इष्ट वस्तु को शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं।

त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः।
जितमेव मनस्तेन कुदन्त इव दन्तिना ॥३।१११।३॥

जो अभिलषित वाह्य विषयों को त्याग कर राग द्वेषादि रहित है वह मन को इस प्रकार जीत लेता है जैसे कुदन्त (टूटे फूटे दान्त वाले) हाथी को दांत वाला हाथी जीत लेता है।

स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम्।
यस्त दुष्करतां यातं धिक तं पुरुषकीटकम् ॥३।१११।८॥

जो वस्तु अपने आधीन है और जो परम हितकर है ऐसो अभिलषित वस्तुओं को त्यागकर वैराग्य वृत्ति न धारण करने वाले पुरुष रूपी कीड़े के लिए धिक्कार है।

अपि स्वबेदनाक्रान्तौ न शक्ता ये नराधमाः।
कथं व्यवहरिष्यन्ति व्यवहारदशासु ते ॥३।१११।२४॥

अपने मन को निग्रह करने में जो समर्थ नहीं है वे नराधम व्यवहार दशा में व्यवहार कैसे करेंगे।

अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलूयते ॥३।१११।३४॥

यह हम हैं, यह हमारा है यह जो भ्रम है यही मन का स्वरूप है। ऐसी भावना के दूर करने मात्र से मन ऐसा कट जाता है। जैसे कोई टांगा (बसूला) से वस्तु कट जाती है।

यन्तु चञ्चलता हीनं तन्मनोमृतमुच्यते।
तदेव च तपः शास्त्रसिद्धांतो मोक्ष उच्यते ॥३।१११।८॥

जो मन चञ्चलता रहित है वही मन की मृत्यु कही गयी है। शास्त्र सिद्धान्त में उसी मन के मरने का नाम तप है। उसी का नाम मोक्ष भी है।

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते।
वासनापदनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥३।११२।११॥

हे रामजी ? जो मन की चंचलता है उसी का नाम अविद्या है वासनारूप अविद्या का विचार के द्वारा विनाश करो।

भवभावनया मग्नं मनसैव चेन्मनः।
बलादुत्तार्यते राम तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥३११२।१८॥

हे रामजी संसार की भावना में डूबा हुआ जो मन है

वह बलपूर्वक मन से ही यदि दूर नहीं किया गया तो उसका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मन एव समर्थं वो मनसो दृढनिग्रहे।
अराजा कः समर्थः स्याद् राज्ञो राघव निग्रहे ॥३।११२।१३

हे रामजी मन को दृढ़ निग्रह करने में मन ही समर्थ हो सकता है जैसे राजा ही राजा को निग्रह कर सकता है। जो स्वयं राजा नहीं है वे दूसरे राजा को क्या जीतेगे।

अभावनं भावनायास्त्वेतावान्वासनाक्षयः।
एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश उच्यते ॥३।११२।२४॥

संसार भावना की भावना नहीं करना ही वासना क्षय है। वासनाक्षय ही मनोनाश है। उसी का नाम अविद्या नाश है।

नाऽसि कर्ता किमेतासु क्रियासु ममता तव।
एकस्मिन्विद्यमाने हि किं केन क्रियते कथम् ॥३।११३।६॥

हे रामजी आप तो कर्ता नहीं है फिर इन क्रियाओं में ममता कैसी ? एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। कौन किसको किससे और कैसे करे।

यथेन्द्रजालमखिलं मायामयमवस्तुकम्।
तत्र काऽऽस्था कथं नाम हेयोपादेयदृष्टयः ॥३।११३।१०॥

हे रामजी ? यह समस्त संसार मायामय इन्द्रजाल के

समान और अवास्तविक है उसमें क्या आस्था है और ग्राह्य त्याज्य दृष्टि कैसे हो सकती है।

इच्छामात्रमविद्येह तन्नाशो मोक्ष उच्यते।

स चाऽसङ्कल्पमात्रेण सिद्धो भवति राघव ॥३।११४।७॥

हे रामजी ! विषयों की इच्छामात्र का नाम अविद्या है। इस अविद्यारूप इच्छा के विनाश को ही मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष संकल्पमात्र के त्याग से सिद्ध हो सकता है।

अतः संकल्पसिद्धेयं सङ्कल्पेनैव नश्यति।

येनैव जाता तेनैव वह्नीज्वालेव वह्निना ॥३।११४।२१॥

जो जिससे उत्पन्न होता है उसका उसी से नाश भी होता है जैसे संकल्पसिद्धमन का सङ्कल्पत्याग से नाश होता है। जैसे अग्नि ज्वाला उसी से उत्पन्न होती है और अग्नि से ही नष्ट हो जाती है।

श्रीराम उवाच

मेरुनीलमणिच्छाया नेऽयं नाऽपि तमः प्रभा।

तदेतत् किं कृतं ब्रह्मन् नीलत्त्वं नभसो वद ॥३।११४।३५॥

हे भगवन् ? आकाश की यह नीलिमा मेरु पर्वत के नीलमणि के शिखरों की प्रभा नहीं है और न तो अन्धकार की कान्ति ही है। तो कहिए यह आकाश की नीलिमा किसकी है।

श्री वशिष्ठ उवाच

स्वद्दांष्टक्षयसम्पत्तावक्ष्णोरेवोदितं तमः ।
वस्तु स्वभावात्तद् व्योम्नः कार्ष्ण्यमित्यवलोक्यते ॥३।११४।३६॥

हे रामजी अपने नेत्रों की दर्शन शक्ति के क्षय होने पर जो वस्तु स्वभाव से अन्धकार उदित होता है वही आकाश की नीलिमा के रूप में दिखाई देता है।

एतद् बुद्ध्वा यथा व्योम्नि दृश्यमानोऽपि कालिमा ।
न कालिमेति बुद्धिः स्यादविद्या तिमिरं यथा ॥३।११४।४०॥

यह जानकर कि जैसे आकाश में दिखाई देती हुई भी कालिमा-कालिमा नहीं है ऐसी बुद्धि होती है वैसे ही अविद्या-रूप अन्धकार को भी जानिए। यह संसार प्रतीत होने पर भी यथार्थ नहीं है।

भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अपुनः स्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥३।११४।४२॥

यह जगत्रूप भ्रम जो आकाश की नीलिमा के समान प्रतीत होता है। जो उसका स्मरण न होना अर्थात् विस्मरण हो जाना ही उत्तमता है।

यदादावेव नास्तीदं तदद्याऽपि न विद्यते ।
यदिदं भाति तद् ब्रह्म शान्तमेकमनिन्दितम् ॥३।११४।४६॥

जो पहले ही नहीं था और आज भी नहीं है जो यह

भान हो रहा है वह एक निर्विकार निर्दोष ब्रह्म ही भान हो रहा है।

यथा हि काष्ठजत्तुनों यथा बदरकुण्डयोः।
श्लिष्टयोरपि नैकत्वं देहदेहिवतोस्तथा ॥३।११४।६२॥

जैसे काष्ठ और लाह मिलने पर भी एक नहीं है। और जैसे कुण्ड में वैर फल रहने पर भी बैर और कुण्ड एक नहीं है वैसे ही देह और देही जीव परस्पर एक साथ होने पर भी एक नहीं है।

अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्मतद्विस्मृतं नृणाम्।
यदसत्यमविद्याख्यं तन्नूनं स्मृतिमागतम् ॥३।११४।६५॥

यह आश्चर्य की बात है जो सत्यब्रह्म है वह तो मनुष्यों को भूल गया है जौर जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है वहीं स्मृति में आ गयी है।

सत्यावबोधो मोक्षश्चैवेति पर्यायनामनी।
सत्यावबोधो जीवोऽयं नेह भूयः प्रमोहति ॥३।११८।४॥

सत्यावबोध और मोक्ष यह दोनों पर्याय वाचक शब्द है जिस जीव को सत्य का अवबोध हो जाता है फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। इसीलिए सत्यावबोध और मोक्ष दोनों एक ही वस्तु है।

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥३।११८।५॥

ज्ञान की सात भूमिकाओं में पहली भूमिका शुभेच्छा है। और दूसरी का नाम विचारणा है और तीसरी तनुमानसा है। और—

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥३।११६॥
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥३।११८।७॥

चौथी भूमिका का नाम सत्त्वापत्तिः, पांचवी असंसक्ति छठी पदार्थाभावनी सातवीं तुर्यगा है। इन सातों भूमिकाओं के अन्त में मुक्ति स्थित है। इन भूमिकाओं के पृथक पृथक् लक्षण आप सुनें। जिसको जानकर मनुष्य फिर शोक नहीं करता।

जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःख रसस्थितौ।
प्रकृतेनाऽर्थकार्याणि किञ्चित्कुर्वन्ति वा न वा ॥३।११८।१८॥

जीवन्मुक्त पुरुष सुख दुःख में निमग्न नहीं होते। स्वभावतः प्रकृति के द्वारा कुछ कार्य होता हुआ भी नहीं करने के बराबर ही होता है।

यदयं लक्ष्यते सर्गस्तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम्।
नभो नभसि विश्रान्तं शान्तं शान्ते शिवे शिवम् ॥३।११९।३॥

हे राम जी? रूप रहित असद् वस्तु का यदि रूप

निरूपण करते हैं तो उसे बन्ध्या पुत्र के आकार और गुणों का भी निरूपण करिए। अर्थात् यह दोनों असम्भव है।

मुकुरप्रतिबिम्बस्थे नगरे नवयोजने।
यथादूरमदूरं च तथेशे तदतत्क्रमः ॥३।११६।३७॥

जैसे दर्पण में स्थित नवयोजन नगर का प्रतिबिम्ब दूर भी है समीप भी है। वैसे ही ईश्वर समीप भी है और बहुत दूर भी है। अर्थात् अविवेकियों के लिए ईश्वर बहुत दूर है विवेकी का ईश्वर तो आत्मा हो है। अतः निकट है।

देशाद् देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥३।१२१।५४॥

एक देश से दूसरे देश अर्थात् एक विषय से दूसरे विषय में चित्त के जाने पर मध्य का जो चेतन है जो शुद्ध रूप है उसमें आप तन्मय हो जाओ।

विषयेन्द्रियसंयोगे हर्षामर्षविवर्जिता।
सैषा शुद्धानुभूतिर्हि सोऽयमात्मा चिदव्ययः ॥३।१२२।३६॥

इन्द्रिय और विषयों के संयोग होने पर भी जो हर्ष और अमर्ष अर्थात् शोक से रहित है वही शुद्ध जीवन्मुक्ति की अनुभूति है। वही अविनाशी चिद् आत्मा है।

सूर्यसन्निधिमात्रेण यथोदेति जगत्क्रिया।
चित्सत्तामात्रकेणेदं जगत्निष्पद्यते तथा ॥३।१२२।५२॥

जैसे सूर्य के उदय होने मात्र से संसार की सारी क्रियाएँ होने लगती है वैसे ही चित्त के सत्ता मात्र से ही यह जगत का निष्पन्नत्ता अर्थात् उत्पत्ति स्थिति आदि सब होते रहते हैं।

पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्
तेनाऽऽततं जगदिदं स्वविकल्पजालैः।
शून्येन शून्यमपि तेन यथाम्बरेण
नीलत्वमुल्लसितचारुतराभिधानम् ॥३।१२२।५५॥

परमात्म तत्त्व से पहले मन उत्पन्न होता है। और वह मन शून्य आकाश में नीलता और अधोमुख मनोहर नीलमणि के कटाह के समान आकाश को दिखाता है। और वहीं सुन्दर वाग् व्यवहार के द्वारा विविध प्रकार से इस जगत् का भी विस्तार करता है।

सङ्कल्पसंक्षयवशाद् गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायाम्
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ॥३।१२२।५६॥

संकल्प के क्षय होने पर चित्त नाश हो जाता है और चित्त के नाश होने पर मोहमयी संसाररूपी मिहिका—पाला या बरफ नष्ट हो जाती हैं। जैसे शरद् ऋतु आने पर आकाश स्वच्छ भान होता है। वैसे ही चित्त के नष्ट होने पर अन्तःकरण में चिन्मात्र अद्वितीय आदि अन्त से रहित आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष भान होने लगता है।

स्थितिप्रकरणम्

एवं तावदिदं विद्धि दृश्यंजगदिति स्थितम् ।
अहं चेत्याद्यनाकारं भ्रान्तिमात्रऽमसन्मय: ॥४।१।२॥

हे रामजी ? इस प्रकार जगतरूप में स्थित इस सम्पूर्ण दृश्य को और अहं को आकाररहित भ्रान्तिमात्र असन्मय समझिए ।

भाति संवित्प्रभैवेयमनाद्यनन्ताऽवभाषिनी ।
यत्तद् जगदिति स्वयम्भूरिति च स्थितम् ॥४।३।१०॥

यह जो जगतरूप से और स्वयम्भूरूप से स्थित है वह अनादि अनन्त प्रकाशमान, चेतन प्रभा ही भाषित होती है ।

बहुनाऽत्र किमुक्तेन मनः कर्मद्रुमाङ्कुरः ।
तस्मिन्छिन्ने जगच्छाखा छिन्नकर्मतनुर्भवेत् ॥४।४।४॥

हे राम जी बहुत कहने की क्या बात है कर्मरूप वृक्ष का मन ही अङ्कुर है । मन के नष्ट होने पर कर्मरूप शरीर वाला यह जगतरूपी वृक्ष भी नष्ट हो जाता है ।

मनः सर्वमिदं राम तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते ।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ॥४।४।५॥

हे रामजी ? यह सारा जगत् मन ही है । मन की पूर्णरूप से चिकित्सा होने पर अर्थात् मन के निरोध होने पर

यह जगत् जालरूपी रोग की चिकित्सा हो जाती है अर्थात् मन के नष्ट होने पर संसार नष्ट हो जाता है।

मनोज्जगज्जगदखिलं तथा मनः
परस्परं त्वविरहिते सदैव हि।
तयोर्द्वयोर्मनसि निरन्तरं क्षिते
क्षितं जगन्नतु जगति क्षिते मनः ॥४।४।१५॥

मन ही समस्त जगत् है और सम्पूर्ण जगत् मन है। दोनों का धर्म धर्मिभाव (कार्यकारण) सम्बन्ध है अतः मन के नष्ट होने पर जगत् नष्ट हो जाता है। किन्तु जगत् के नष्ट होने पर मन नष्ट नहीं होता।

मिथ्याभावनया ब्रह्मन्स्वविकल्पकलङ्किता।
न ब्रह्मवयमित्यन्तनिश्चयेन ह्यधोगताः ॥३।१२।२॥

हे ब्रह्मन् विकल्प से कलङ्कित जीव आत्मत्व की भ्रान्ति से हम ब्रह्म नहीं है इस निश्चय के कारण अधोगति अर्थात् नरक तुल्य नीच योनियों में आता जाता रहता है।

विलीयते मनोमोहः सच्छास्त्रप्रविचारणात्।
नभो विहरणाद् भानोः शार्वरं तिमिरं यथा ॥४।१३।६॥

जैसे आकाश में सूर्य के भ्रमण से रात्रि का अन्धकार दूर हो जाता है वैसे ही सत् शास्त्र (अध्यात्मशास्त्र) के विचार से मन का मोह नष्ट हो जाता है।

यद्यत्र चिद्भावयति तत्तत्राशुभवत्यलम् ।
तथा स्वप्नेऽपि यद् दृष्टं तत्काले सत्यमेव तत् ॥३।१८।४८॥

चित्त जहाँ जिस वस्तु की भावना करता है वहाँ वह वस्तु उत्पन्न हो जाती है। स्वप्न में देखा गया है कि चित्त की भावना से अवस्तु भी स्वप्नकाल में सत्य के समान भान होती है।

चिदणोरन्तरे सन्ति समस्तानुभवाणवः ।
यथा बीजान्तरे पत्रलतापुष्पफलाणवः ॥४।१८।४६॥

जैसे बीज के भीतर पत्र लता पुष्प और फल सबका अणु वर्तमान है उसी तरह से चिद् रूप अणु के भीतर सूक्ष्म रूप से सारे जगत् की वासना वर्तमान है।

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः ।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता ॥४।१८।६५॥

उसी सद्बुद्धिमान का विचार सफल माना जाता है जिसकी प्रतिदिन भोग की चाहना निवृत्त होती जाती है।

यथा स्पर्शेन पवनः सत्तामायाति नो गिरा ।
यथेच्छातानवेनैव विवेकोऽस्य विबुद्ध्यते ॥४।१८।६८॥

जैसे स्पर्श से वायु की सत्ता—(अस्तित्व) प्रतीत होती है वाणी से प्रतीति नहीं होती। उसी तरह से इच्छा के अभाव (कमजोर) होने से विवेक का ज्ञान होता है। अर्थात् वैराग्य से ही विवेक का ज्ञान होता है।

चित्रामृतं नामृतमेव विद्धि चित्रानलं नानलमेव विद्धि ।
चित्राङ्गना नूनमनङ्गनेति वाचा विवेकस्त्वविवेक एव ॥४।१८।६६॥

हे रामजी ? चित्र में लिखित अमृत और जल न अमृत है और न जल है, चित्र में लिखित अग्नि भी अग्नि नहीं है। और चित्र में लिखित स्त्री भी स्त्री नहीं है उसी तरह वाणी मात्र से दिखाया हुआ विवेक भी अविवेक ही है।

स्थिरप्रत्ययुक्तं यत्तज्जाग्रदिति कथ्यते।
अस्थिरप्रत्ययं यत्स्यात्तत्स्वप्नः समुदाहृतः ॥४।१६।६॥

हे रामजी ? जो वस्तु स्थिर प्रतीति से युक्त है उसका नाम जाग्रत है। और जो अस्थिर प्रतीति से युक्त है उसका नाम स्वप्न है।

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥४।१६।११॥

स्थिरता और अस्थिरता के बिना जाग्रत और स्वप्न का भेद नहीं प्रतीत हो सकता है किन्तु दोनों को जाननेवाला सब काल में रहने वाला सम एक सदा अनुभव होता है।

अनाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो यतः क्षुब्धोऽन्तरेव सः।
संविदानुभवत्याशु स स्वप्न इति कथ्यते ॥४।१६।२३॥

इन्द्रियच्छिद्रों को आक्रान्त न होने पर भीतर क्षुब्ध होता हुआ जीव जिन पदार्थों का अनुभव करता है उसको स्वप्न कहते हैं ;

समाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो यः क्षुब्धो वायुना यदा ।
परिपश्यति तज्जाग्रद् इत्याहुर्मुनिसत्तमाः ॥६।१६।३४॥

वायु से क्षुब्ध होकर इन्द्रिय छिद्रों पर आक्रमण करके अर्थात् इन्द्रिय छिद्रों पर आरूढ हो करके जब यह जीव वाह्य शब्दादि विषयों को देखता है तब उसका नाम जाग्रत होता है ।

भावाभावग्रहोत्सर्ग दृशश्चेतन कल्पिताः ।
नासत्या नापि सत्यास्ता मनश्चापलकारिताः ॥४।२०।३॥

भाव अभाव, ग्रहण और त्याग आदि प्रतीतियाँ चेतन में कल्पित है । न असत्य है न सत्य है मन की चंचलता मात्र से सत्य असत्य की प्रतीति हो रही है ।

न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥४।२१।५७॥

वह वस्तु नहीं है जो सत्य न हो ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं जो मिथ्या नहीं है जिसने जिसको जैसा निर्णय किया है उसको वैसा ही प्रतीत होता है । अर्थात् देखता है ।

कोऽहं कथमिदश्चेति यावन्न प्रविचारितम् ।
संसाराडम्बरं तावदन्धकारोपमं स्थितम् ॥४।२२।२२॥

मैं कौन हूँ यह शरीर कैसे हुआ है इसका जब तक विचार नहीं करता है तब तक यह अन्धकार के तुल्य संसार-रूपी आडम्बर बना रहता है ।

मिथ्याभ्रमभरोद्भूतं शरीरं पदमापदाम् ।
आत्मभावनया नेदं यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।२३॥

मिथ्या भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ समस्त आपत्तियों का आश्रय जो यह शरीर है उसको (नेदं शरीरं) यह शरीर आत्मा नहीं है इस युक्ति से शरीरादि को बाधित करके आत्मा को जो देखता है वही यथार्थं देखता है।

देशकालवशोत्थानि न ममेति गतभ्रमम् ।
शरीरे सुखदुःखानि यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।२४॥

देश काल के कारण शरीर में उत्पन्न होनेवाले जो आध्यात्मिक आधिभौतिक, व आधिदैविक सुख दुःख शरीर को ही है मुझ आत्मा में नहीं है ऐसा भ्रमरहित जो देखता वही वास्तविक देखता है।

अपारपर्यन्तनभोदिक्कालादिक्रियान्वितम् ।
अहमेवेति सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।२५॥

अनन्त आकाश, दिशा और काल है। उनमें उत्पत्ति गति आदि क्रियाओं से युक्त जो वस्तु है वह सब मैं ही हूं। ऐसा जो देखता हैं वही यथार्थ आत्मा को देखता है।

बालाग्रलक्षभागात्तु कोटिशः परिकल्पितात् ।
अहं सूक्ष्म इति व्यापी यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।२६॥

बाल के अग्रभाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म करोड़ों अंश में विभक्त और व्यापक जो वस्तु है सूक्ष्म और व्यापक अंश में

मैं ही हूँ ऐसा जो देखता है वहीं यथार्थ आत्मा को देखता है।

आत्मानमितरच्चैव दृष्टया नित्याविभिन्नया ।
सर्वं चिज्ज्योतिरेवेति यः पश्यति स पश्यति ॥२।२२।२७॥

आत्मा और जीव ये दोनों नित्य और आपस में अभिन्न है अर्थात् एक है। सब चिन्मात्र ज्योति ही है ऐसा जो देखता वही यथार्थ आत्मा को देखता है।

सर्वशक्तिरनन्तात्मा सर्वभावान्तरस्थितः ।
अद्वितीयश्चिदित्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।२८॥

अद्वितीय चित् सर्वशक्ति युक्त जो अनन्त आत्मस्वरूप है तथा सब के भीतर है वह एक ही है ऐसा जो देखता है वही आत्मतत्त्व को देखता है।

नाहं न चान्यदस्तीति ब्रह्मैवाऽस्ति निरामयम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्ये यः पश्यती स पश्यति ॥४।२२।३३॥

न मैं न कोई दूसरा है एकमात्र सर्वोपाधिरहित निर्मल ब्रह्म हो व्यक्त और अव्यक्तरूप से सबमें दिखाई देता है ऐसा जो देखता है वहीं यथार्थ आत्मा को देखता है।

यन्नाम किंचित्त्रैलोक्यां स एवावयवो मम ।
तरङ्गोऽब्धाविवेत्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।२३॥

जो तीनों लोक नाम की जो वस्तु है वह हमारा अवयव है जैसे समुद्र में तरङ्ग समुद्र का अवयव ही है ऐसा जो देखता है वहीं यथार्थ आत्मा को देखता है।

शोच्या पाल्या मयैवेयं स्वसेयं मे कनीयसी ।
त्रिलोकी पेलवेत्युच्चैर्यः पश्यति स पश्यति ॥४।२२।३४॥

स्वतः सत्ता शून्य है अतः शोचनीय है मेरी सत्ता से ही मेरी छोटी बहन है अत्यन्त सुकुमार है इस दृष्टि से जो तीनों लोक को देखता है वही यथार्थ देखता है।

स्वशरीरमनोज्ञस्य सर्वसौभाग्यसुन्दरी ।
सुखायैव न दुःखाय परमाय हिताय च ॥४।२६।१७॥

अत्यन्त मनोज्ञ--मन का हरण करनेवाला और सर्वसौभाग्य से सुन्दर ज्ञानियों का यह देह सुख के लिए है दुःख के लिए नहीं। दूसरे को उपदेश के द्वारा संसार का हित करनेवाला है।

किञ्चिदस्यां प्रनष्टायां ज्ञस्य नष्टमन्दिरम् ।
स्थितायां संस्थितं सर्वं तेनेयं ज्ञ सुखावहा ॥४।२३।१६॥

हे अरिन्दम--शत्रुतापन ! ज्ञानी का यह नगण्य शरीर नष्ट होने पर कुछ नष्ट हो गया। और रहने पर भोग और मोक्ष इसी शरीर से स्थित है। अतः ज्ञानी को भी शरीर सुखावह है।

संव्यमानोऽपि भोगौघो न खेदायास्य जायते ।
कालकूटः किलेशस्य कण्ठे प्रत्युत राजते ॥४।२३।४०॥

यद्यपि नाना प्रकार के भोगों को भोगता है फिर जन्म मरण का कारण नहीं होता है। जैसे कालकूट भी भगवान

शंकर के कण्ठ में जो कालकूट है वह दुःख नहीं देता परन्तु शोभा देता है।

परिज्ञातोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवितो चोरो मैत्रीमेति न शत्रुताम् ॥४।२३।४१॥

यह नश्वर है क्षणिक है ऐसा जान करके जो भोग भोगा जाता है वह तृप्ति का कारण होता है जैसे जाना हुआ चोर मित्रता करता है शत्रुता नहीं करता।

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥४।२७।२५॥

आशक्ति ही अनन्त दुःखों का कारण है और अनाशक्ति सब सुखों का कारण है ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं।

अलीकमेव त्वद्भावो मद्भावोऽलीकमेव च।
अनुभूतोऽप्यसद्रूपः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥४।३१।१७॥

जैसे स्वप्न में अपना मरना अलीक है वैसे ही अपना आत्मभाव मैं शरीर हूँ यह अलीक है और तेरा भाव भी अलीक है।

ब्रह्म सर्वं जगदिति वक्तुं नाऽज्ञस्य युज्यते।
तपोविद्याननुभवे सतदैवानुभूतवान् ॥४।३१।२४॥

सर्वं ब्रह्म यह उपदेश अज्ञ को नहीं करना चाहिए क्योंकि तप और विद्या आदि के संस्कार के बिना आत्मा का अनुभव

नहीं होता और अज्ञानी तो सदा देह को ही आत्मा अनुभव करता है। उसको आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

ब्रह्मैवेदं परं शान्तमित्येवानुभवन् सुधीः।
अपह्नवः स्वानुभूतेः कर्तुं तस्य क्व युज्यते ॥४।३१।२६॥

सुधी--ज्ञानी इदं सर्वं शान्तं परं ब्रह्म ऐसा अनुभव करता है उसके स्वानुभव के अपलाप करने में कौन समर्थ हो सकता है।

न सत्यमस्ति नासत्यमिति तस्मात् जगत्त्रये।
यद्यथा वेत्ति चिद्रूपं तत्तथोदेत्यशंसयम् ॥४।३१।३६॥

यह जगत् तीनों लोक में न कुछ सत्य है न असत्य है चिद्रूप आत्मा जिसको जैसा जानता है वह वैसे उसको प्रतीत होता है अर्थात् सत्य जानता है तो सत्य प्रतीत होता है असत्य जानता है तो असत्य प्रतीत होता है।

निर्वाणमेव सर्गश्रीः सर्गश्रीरेव निर्वृतिः।
नाऽनयोः शब्दयोरर्थभेदः पर्याययोरिव ॥४।३१।४४॥

निर्वाण ही सृष्टि है और सृष्टि ही निर्वाण है दोनों के शब्दार्थ में भेद नहीं है। पर्यायवाचक है।

इसका भाव यह है जो एकमात्र चेतन ही सत्ता है उससे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं तो सृष्टि और लय कल्पनामात्र है। इस दृष्टि से निर्वाण और सृष्टि में कुछ भेद नहीं।

यथाशास्त्रविहरता त्वरा कार्या न सिद्धिषु।
चिरकालपरिपक्वा सिद्धिः पुष्टफला भवेत् ॥४।३२।४६॥

शास्त्रानुकू कार्य करनेवाले साधक को सिद्धि प्राप्ति के लिए जल्दी नहीं करना चाहिए। बहुतकाल में परिपक्व हुई सिद्धि उत्तम फल देनेवाली होती है।

अहम्भावः परिज्ञातो नाहंभावो भवत्यलम्।
एकतामम्बुनेवाम्बु याति चिन्नभसात्मना ॥४।३३।२५॥

अहंकार का दो अर्थ होता है एक वाच्यार्थ और एक लक्ष्यार्थ। जब तक लक्ष्यार्थ का ज्ञान नहीं होता है तब तक वाच्यार्थ अहंभाव देह में बना रहता है। लक्ष्यार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर अहंकार नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्र में प्रवेश होने पर नदियों का अपना नाम गंगा यमुना आदि नाम समाप्त हो जाता है। केवल समुद्रमात्र रह जाता है। वैसे ही चिदाकाशरूप आत्मा में ऐक्य ज्ञान होने पर पृथक् अहंकार का विनाश हो जाता है।

मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः।
इत्यन्तरानुसन्धानादहंकारो न जायते ॥४।३३।४५॥

यह जगत् इन्द्रजाल के समान मिथ्या है। इसमें मुझको स्नेह और वैराग्य करने से क्या लाभ होगा इस प्रकार मन में निरन्तर अनुसन्धान--ध्यान--चिन्तन करने से अहंकार उत्पन्न नहीं होता।

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः ।

नान्यदस्तीति परमा विज्ञेया सा अहंकृतिः ॥४।३३।५०॥

यह सारा विश्व मैं ही हूं। अपने स्वरूप से च्युत न होनेवाला मैं ही अच्युत हूँ और मैं ही परमात्मा हूं मुझसे अन्य दूसरा कुछ नहीं है इस प्रकार का जो अहंकार है उसको परम अहंकार जानिए। अर्थात् तत् पद का जो लक्ष्य वहीं यह परं अहंकार है।

तस्माद् वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः ।

राम निर्वासनीभावमाहरस्व विवेकतः ॥४।३४।७॥

हे रामजी वासना से युक्त मन बद्ध कहलाता है और वासनारहित मन मुक्त कहलाता है। अतः विवेक पूर्वक आप निर्वासनता सम्पादन करें।

आत्मैवेदं जगत्सर्वं कः किं भावयतु क्व वा ।

भावना नाम नास्त्येव तदेतत्सम्यमीक्षणम् ॥४।३४।३०॥

यह संपूर्ण जगत आत्मा ही है तो कौन किस वस्तु की कहाँ भावना करे। भावना नाम की तो वस्तु भी नहीं है। अतः स्वप्रकाश चिन्मात्र का दर्शन ही यथार्थ दर्शन है।

वासनाचित्तनामानौ शब्दार्थसमन्वितौ ।

सत्यावलोकनाद्यत्र विलीनौ तत्परे पदम् ॥४।३४।३१॥

वासना और चित्त नाम के अर्थ युक्त दोनों शब्द जिस

परमार्थ सत्य के दर्शन से विलीन हो जाय वहीं परमपद है।

श्रूयतां ज्ञानसर्वस्वं श्रुत्वा चैवाऽवधार्यताम्।
भोगेच्छामात्रको बन्धः तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ॥४।३५।३॥

हे रामजी ? ज्ञान सर्वस्व सुनों और सुनकर उसे हृदय में धारण करो भोग मात्र की इच्छा का नाम बन्ध है और इसका त्याग करना ही मोक्ष है। इसी का नाम ज्ञान सर्वस्व है।

किमन्यैः शास्त्रसन्दर्भैः क्रियतामिदमेव तु।
यद्यत्स्वाद्विह तत्सर्वं दृश्यतो विषवह्निवत् ॥४।३५।४॥

हे रामजी बहुत शास्त्र सन्दर्भों से क्या प्रयोजन है एकमात्र इतना ही कीजिए जो जो. स्वादु वस्तु प्रतीत हो अतः जो विषय सुन्दर प्रतीत हो उन सबको विष और अग्नि के समान देखो।

विषमाविषयाभोगाः प्रविचार्य पुनः पुनः।
उपरिष्टात्परित्यज्य सेव्यमाना सुखावहाः ॥४।३५।५॥

विषय भोग दुःखपुर होते हैं इसलिए बार बार विचार करके और मिथ्यात्व अनुभूत करके त्याग पूर्वक सेवन से सुख प्राप्त होता है।

मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।
ज्ञ मनोनाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य विवर्धते ॥४।३५।१८॥

मन का अभ्युदय अर्थात् मन को विषयों से स्वतन्त्रता प्राप्त होना सर्वस्व नाश का कारण होता है और निग्रह पूर्वक जो मन का नाश है वहीं अभ्युदय का कारण है। ज्ञानियों का मन नाश हो जाता है और अज्ञों का मन बढ़ता रहता है अर्थात् नाना प्रकार के विषयों को चाहता रहता है।

विकल्पकलुषा या स्या च्चित्तत्त्वस्यात्मविस्मृतिः।
मन इत्युच्यते सेयं वासना भवभागिनी ॥४।३५।२०॥

चित्ततत्त्व की नाना प्रकार की कल्पनाओं से कलुषित होने से जो स्वरूप की विस्मृति उसी का नाम मन है। उसी का नाम वासना भी है। वहीं संसार का भागी होता है।

नात्मासंसारिपुरुषो न शरीरं न शोणितम्।
जडं सर्वं शरीरादि देही खवदलेपकः ॥४।३५।२३॥

आत्मा न तो जीव है न शरीर है न रुधिर है क्योंकि शरीर आदि सब जड़ है देही आत्मा तो इनसे विलक्षण आकाशवत् निर्लेप हैं।

मनो जीवो नरं विद्धि तदेवाकारमागतम्।
आत्मनात्मानमादत्ते स्वविकल्पात्म कल्पितम् ॥४।३५।२५॥

मनही जीव है वहो साकार हो जाता है तब उसको नर-मनुष्य जानो। अपने विकल्पों से कल्पित अपने स्वरूप का अपने आप ग्रहण करता है।

सङ्कल्पिता जगति मोक्षमतिर्मुधैव,
सङ्कल्पिता जगति बन्धमतिर्मुधैव ।
सन्त्यज्य सर्वमनहंकृतिरात्मनिष्ठो,
धीरो धिया व्यवहरन्भुवि रामतिष्ठ ॥४।३८।२३॥

जगत् में मोक्ष की कल्पना असत्य है और बन्ध की संकल्प करना भी मिथ्या है। हे राम जी आप बन्ध मोक्ष की कल्पना त्यागकर अहंकार शून्य तथा आत्म निष्ठ होकर धीर वुद्धि (धैर्य पूर्वक बुद्धि से) व्यवहार करते हुए संसार में स्थित हों।

यो यस्माज्जायते स तत्सदृश एव भवति ॥४।३९।१०॥

लोक में देखा जाता है जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसी के सदृश होता है।

आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं प्रबोधयेत् ।
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्मशुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥४।३९।२३॥

पहले शिष्य को शमदमादि गुणों से शुद्ध करें। तदनन्तर यह सब ब्रह्म ही है तुम भी शुद्ध ब्रह्म ही हो ऐसा बोध करावें।

अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥४।३९।२४॥

अज्ञ और अर्द्ध प्रबुद्ध को सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसा जो

उपदेश करता है वह उपदेशक के द्वारा महाघोर नरक में गिराया जाता है।

ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति ॥४।४१।१५॥

हे राम जी यह माया ऐसी है जो अपने नाश हो जाती है तो दूसरे को प्रसन्नता होती है इसका स्वभाव जाना नहीं जाता। विचाररूपी ज्ञान दृष्टि से यह नष्ट हो जाती है।

विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम्।
न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत् ॥४।४१।१६॥

यह अविद्या विवेक को ढक लेती है और विवेक ढककर जगत को उत्पन्न करती है लेकिन यह कौन है यह जानी नहीं जाती इस जगत् रूप आश्चर्य को तुम देखो।

कुतो जातेयमिति ते राम मास्तु विचारणा।
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा ॥४।४१।३२॥

हे राम जी ? यह माया कहाँ से उत्पन्न हुई है इसका विचार मत करो। किन्तु इसका नाश कैसे करूँ यही विचार करो।

राम नष्टे जगत्यस्मिन्न किञ्चिदपि नश्यति।
युक्तेऽपि च जगत्यस्मिन्न किञ्चिदपि युज्यते ॥४।४५ ३५॥

हे राम जी ? इस जगत् रूपी माया के नष्ट होने पर

भी कुछ नष्ट नहीं होता और इसके समृद्ध होने पर भी कुछ समृद्ध नहीं होता।

मनः प्रकल्पिते भग्ने हृदि विस्तीर्णपत्तने।
वृद्धिं चोपगते ब्रूहि किं वृद्धं कस्य किंचितम् ॥४।४५।३५॥

हृदय में मन के द्वारा कल्पित जो विस्तीर्ण पत्तन–महल है उसके बनने से क्या बनता है और उसके नष्ट होने से भी क्या नष्ट होता है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।
योऽभिवाञ्छत्यसद्राम तस्याऽसत्तैव दृश्यते ॥४।४५।४५॥

जो वस्तु आदि अन्त में नहीं है वर्तमान में भी उसकी सत्ता नहीं है। हे राम जी ! जो इसको असत् जानता है उसको असत् ही दीखता है।

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥४।४६।३॥

रमणीय धन और स्त्री पुत्र आदि में हर्ष का अवसर कहाँ है। बढ़े हुए मृग तृष्णा में जलार्थियों को क्या आनन्द है।

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥४।४६।४॥

धन स्त्री और पूत्र आदि के बढ़ने पर दुःखी होना ही उचित है सन्तुष्ट होना उचित नहीं है। मोहरूपी माया के बढ़ने पर संसार में कौन स्वस्थ रह सकता है।

यैरेव जायते रात्रो मूर्खस्याधिकता गतैः ।
तैरेव भोगैर्प्राज्ञस्य विरागोपजायते ॥४।४६।५॥

जिन बढ़े हुए भोगों में मूर्खों को राग होता है उन्हीं बढ़े हुए भोगों से ज्ञानवान को विराग हो जाता है ।

नष्टे धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
परावलोकि नस्त्वेतैर्विरागं यान्ति साधवः ॥४।४६।६॥

नष्ट होने वाले धन और स्त्री आदि में हर्ष का अवसर ही कहाँ रहता है इनके परिणाम का अवलोकन करने वाले अर्थात स्त्री धन आदि नश्वर है और नरक के हेतु है ऐसा जानने वाले साधु पुरुष को उनसे विराग हो जाता है ।

अतो राघव तत्त्वज्ञो व्यवहारेषु संसृतेः ।
नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥४।४६।७॥

इसीलिए हे राम जी ? तत्त्वज्ञ होकर आप संसार के व्यवहार में नष्ट वस्तु की उपेक्षा कीजिए और जो प्राप्त हो उसका सदुपयोग करिए ।

अनागतानां भोगानाभवाञ्च्छनमकृत्रियम् ।
अनागतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥४।४६।८॥

अनागत भोगों की यथार्थ अनिच्छा करना आगत भोगों का भोग लेना यहीं पण्डित का लक्षण है ।

यया कयाचिद्युक्तयैव दृश्याद्यस्य गता रतिः ।
परिमज्जति तस्यास्था न क्वचिद्विमलामतिषु ॥४।४६।११॥

जिस किसी भी युक्ति से दृश्य विषयों से रति-राग प्रेम दूर हो गया उसके परमार्थ में जानेवाली निर्मल बुद्धि संसार में नहीं डूबती ।

शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्धयाऽवलम्ब्यच ।
स बाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मागृहाण विमुञ्च च ॥४।४६।१४॥

सत् असत् दोनों के मध्य में अनुगत् शुद्ध सत्तामात्र प्रत्यगात्म पद को बुद्धि से अवलम्बन करके बाहर भीतर समस्त दृश्यों को न ग्रहण करो न त्याग करो ।

यदा ते नेन्द्रियार्थश्री: स्वन्दते हृदि राघव ।
तदा विज्ञातविज्ञानः समुत्तीणभवार्णवः ॥४।४६।१६॥

हे राम जी ? जब आपके हृदय में इन्द्रियों की विषयरूपी जानने योग्य पदार्थ को जानकर श्री अर्थात् सम्पत्ति में—भोगों में जब स्वाद नहीं लगेगा अर्थात भोगों में विराग हो जायगा तो ज्ञात ज्ञेय पदार्थ को जानकर संसार रूपो समुद्र से पार हो जायगें ।

आधिव्याधिपरीताय प्रातर्वाद्य विनाशिने ।
प्रयतन्ते शरीराय हितमज्ञास्तु न त्मने ॥४।४८।५॥

अज्ञानी लोग आधिव्याधि से घिर हुए आज या कल नाश होने वाले शरीर के हित के लिए ही प्रयत्न करते हैं । आत्मा के हित के लिए उद्योग नहीं करते ।

अनाबाधेऽविकारे च सुखे परमपावने ।
सङ्कल्पोपशमे यत्नं पौरुषेण परं कुरु ॥४।५३।४३॥

बाध रहित अविकारी परम पवित्र सुखरूप सङ्कल्प के उपराम—अर्थात् संकल्प निवृत्ति के लिए शमदमादि साधन पूर्वक श्रवणादि के लिए परमपुरुषार्थं रूपी यत्न करो ।

सङ्कल्प्यते यथा यद्यत्तत्तथा भवति क्षणात् ।
मा किञ्चिदपि तत्त्वज्ञ सङ्कल्पय कदाचन ॥४।५३।४६॥

जिसका जिसका जैसा संकल्प किया जाता है वह क्षण भर में वैसा हो जाता है इसलिए हे तत्त्वज्ञ आप कभी किसी वस्तु का सङ्कल्प न करें ।

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः ।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पांकुरं विदुः ॥४। ५४।२॥

अनन्त सत्ता सामान्यरूप आत्मतत्त्वरूप चित्त की जो विषयोन्मुखता है उसी को संकल्पों का अंकुर समझो ।

संकल्पमात्रं हि जगज्जलमात्रं यथार्णवः ।

जैसे जलमात्र ही समुद्र है वैसे ही संकल्पमात्र ही जगत है संकल्प से अन्य संसार रूप दुःख कुछ नहीं है ।

सङ्कल्प नाशयत्नेन न भयान्यनुगच्छति ।
भावनाभावमात्रेण सङ्कल्पःक्षीयते स्वयम ॥४।५४।१३॥

संकल्प के विनाश में यत्न करने से मनुष्य को भय नहीं

होता है भावमात्र के नाश होने से संकल्प अपने आप नष्ट हो जाता है।

सुमनः पल्लवामर्दे किञ्चित् व्यतिकरो भवेत ।
सुसाध्योऽभावमात्रेण न तु सङ्कल्पनाशने ॥४।५४।१४॥

पुष्प और कोमल पल्लवों के मलने में थोड़ा कुछ प्रयत्न तो होता है किन्तु भावना के अभाव मात्र से सुसाध्य सङ्कल्प नाश में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अतः केवल भावना का ही अभाव करना चाहिए।

सङ्कल्पो येन हन्तव्यस्तेन भावविपर्ययात् ।
अप्यर्द्धेन निमेषेण लीययैव निहन्यते ॥४।५४।१६॥

जिसको संकल्प का विनाश करना हो उसको भावना के अभाव करने मात्र से आधे क्षण में अनायास संकल्प का नाश हो जाता है।

उपशान्ते हि सङ्कल्पे उपशान्तमिदं भवेत् ।
संसार दुःखमखिलं मूलादपि महामते ॥४।५४।१९॥

संकल्प के शान्त होने पर यह संसाररूप दुःख का मूल शान्त हो जाता है अर्थात् समस्त संसाररूप दुःख का मूल ही नाश हो जाता है।

सङ्कल्पमात्रादृते नेह किञ्चिदेवाऽस्ति कुत्रचित् ।
तमेव हृदयाच्छिन्धि किमन्यत्परिशोचसि ॥४।५४।२१॥

संकल्प से भिन्न संसार में कहीं कुछ नहीं है। अतः

हृदय से संकल्प को ही मिटाओ। अन्य वस्तु के लिए शोक क्यों करते हो।

अपर्यन्तस्य कालस्य कश्चिद्देशः शरच्छतम्।
तावन्मात्रमहाश्चर्यः किमर्थं सोऽनुधावति ॥४।५६।१३॥

सौ वर्ष की भी मनुष्य की आयु अपर्यन्त-असीम काल के एक अंश के बराबर होती है तो केवल थोड़े काल के लिए यह मनुष्य शरीर इन्द्रियों के विषयों के पीछे क्यों दौड़ता है।

बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥४।५७।१६॥

वासनाओं से युक्त पुरुष ही बद्ध कहलाता है। और वासना क्षय होने पर मुक्त हो जाता है। अतः आप वासनाओं का त्याग करो। यहाँ तक की मोक्ष की भी चाहना मत करो।

तामसीः वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम् ॥४।५७।२०॥

पहले तिर्यग् आदि योनियों में ले जाने वाली तामसी वासना को त्यागो और उसको त्यागकर मैत्री, करुणा, मुदिता आदि निर्मल वासनाओं को ग्रहण करो।

तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम्।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्यज ॥४।५७।२२॥

तामसी वासना त्यागने के लिए निर्मल मैत्र्यादि वासना

का ग्रहण करना कहा गया है। और जब तामसी वासना शान्त हो जाय तब चिन्मात्रभावना के द्वारा निर्मल वासनाओं का भी त्याग कर दो।

द्रष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा दिशो दिश।
जनाः कतिपया एव यथावस्त्वांक्लोकिनः ।।४।५७।२६।।

दशों दिशाओं में घूम घूम कर देखने योग्य सब वस्तुओं को देखा किन्तु तत्वज्ञानी तो विरला ही देखा।

ये केचन समारम्भा ये जनस्य क्रिया क्रमाः।
ते सर्वे देहमात्रार्थमात्मार्थं न तु किञ्चन ।।४।५७।३१।।

मनुष्यों के इस संसार में जो कुछ भी क्रिया देखी जाती हैं लौकिक या वैदिक ये सभी क्रियाएँ देह के सुख के लिए है। आत्मा के लिए कुछ नहीं।

इदं हेयमुपादेयमिदमित्यसदुत्थितौ।
निश्चयौ गलितौ यस्य ज्ञस्याऽसावतिदुर्लभः ।।४।५७।३३।।

अज्ञान से उत्पन्न होने वाली ग्राह्य और त्याज्य बुद्धि जिसकी नष्ट हो गयी ऐसा ज्ञानी पुरुष दुर्लभ है।

सर्वत्र पंचभूतानि षष्ठं किञ्चिन्न विद्यते।
पाताले भूतले स्वर्गे रतिमेतु क धीर धीः ।।४।५७।३६।।

पाताल भूतल और स्वर्ग तीनों लोकों में सब जगह पंचभूत ही है छठी कुछ वस्तु नहीं है ऐसा जानने वाले बुद्धिमान को कौन वस्तु में रति-प्रीति हो सकेगी अर्थात सभी

पंचभूत तो मिथ्या ही है। मिथ्यावस्तु में बुद्धिमान् को प्रेम नहीं होता।

युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः।
दूरसंत्यक्तयुक्तेस्तु महामत्तार्णवोपमाः ॥४।५७।३७॥

जो युक्ति से संसार में व्यवहार करता है उसको संसार गोष्पद-गौ के खुर के समान अनायास पार करने योग्य बन जाता है और जो युक्ति को त्याग देता है उसके लिए प्रलय-काल के महासमुद्र के समान दुस्तर हो जाता है।

न केचन जगद्भावास्तत्वज्ञं रंजयन्त्यमी।
अप्यभ्यासगताः स्फारं हृदयं खमिवाऽम्बुदाः ॥४।५७।५५॥

तत्त्वज्ञ को वैराग्य दृढ होने के कारण लोकपालों के भोग्य के योग्य भी त्रैलोक्य के कोई पदार्थ बार-बार अभ्यस्त होने पर भी उनको रंजित नहीं कर सकते। जैसे आकाश को मेघ रञ्जित नहीं करते।

न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयत्यमी।
मर्कटा इव नृत्यन्तो गौरीलास्यार्थिनं हरम् ॥४।५७।५६॥

जैसे गौरी के नृत्य की इच्छा करने वाले भगवान शंकर को बड़ी सुन्दर नाचने वाले बन्दर अनुरञ्जित नहीं करते वैसे ही जगत के कोई भी पदार्थ जगत को रंजित नहीं कर सकते।

अन्नपानाङ्गना सङ्गादृते नास्तीह किञ्चन।
शुभं वस्त्विति संवादि महान् किंकिव वाञ्छतु ॥४।५८।१॥

अन्न पान तथा स्त्री के बिना इस संसार में दूसरी कुछ भोग वस्तु नहीं है ऐसा विचार कर महान् परमपद में आरूढ ज्ञानी इन भोग वस्तुओं की क्यों इच्छा करेगा ।

तन्मयो विभवत्येवं तस्माद्भवति पौरुषम् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन महार्हगुणशालिनः ॥४।६२।१७॥

पुरुष के प्रयत्न से ही महान गुणों से युक्त हो जाता है । पुरुष के संसर्ग से मनुष्य निर्मल और तन्मय हो जाता है ।

मुमुक्षवो भवन्तीह पाश्चात्यशुभजातयः ।
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ॥४।६२।१८॥

मुमुक्षुपुरुष गुणों से अलंकृत होकर ही जीवन्मुक्त शरीर वाले होते हैं । तीनों लोक—अर्थात् पृथ्वी स्वर्ग, पाताल में और अन्यत्र कहीं भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसको गुणवान पुरुष अपने प्रयत्न से प्राप्त न करे अर्थात् पुरुष प्रयत्न से सब कुछ प्राप्त कर सकता है ।

पौरुषेण प्रयत्नेन यन्नाप्नोति गुणान्वितः ।
ब्रह्मचर्येण धैर्येण वीर्यवैराग्यरेहसा ।
युक्त्या युक्तेन हि विना न प्राप्नोषि तदीहितम् ॥४।६२।१९

गुणवान् पुरुष अपने पौरुष प्रयत्न से ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको नहीं प्राप्त करे । युक्ति सहित ब्रह्मचर्य धैर्य और दृढ वैराग्य के बिना ईहित—अभीष्ट नहीं प्राप्त कर सकता है ।

उपशम—प्रकरणम्

शास्त्रसज्जनसत्सकार्यसंवेगेनोपहतैनसाम् ।
शारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपिकोपमा ॥५।५।५॥

शास्त्र के अभ्यास सज्जनों की संगति और सत्कर्मों के आचरण से जिनके एनस—(पाप) नष्ट हो गए हैं ऐसे पुरुषों के सार वस्तु अवलोकन करने वाली दीप के समान बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

स्वयमेव विचारेण विचार्यात्मानमात्मना ।
यावन्नाधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते ॥५।५।६॥

स्वयं ही अपने आप अपने स्वरूप का विचार करने पर जब तक ज्ञेय का ज्ञान न उत्पन्न हो तब तब ज्ञातव्य वस्तु प्राप्त नहीं होती।

आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृसी तस्य सत्यता ।
आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत् ॥५।५।६॥

जिस वस्तु का आदि अन्त नहीं है वह वस्तु सत्य कैसे हो सकती है। जो आदि और अन्त्य में नित्य है वही सत्य है। दूसरी नहीं।

जायते मन एवेह मन एव विवर्धते ।
सम्यग्दर्शनदृष्ट्या तु मन एव हि मुच्यते ॥५।५।११॥

इस संसार में मन ही उत्पन्न होता है। और मन ही बढ़ता है और सम्यग् तत्वदर्शन से मन ही मुक्त होता है।

सुखदुःखे न देहस्य सर्वातीतस्य नात्मनः।
एते हि ह्यज्ञादकस्यैव तस्मिन्नष्टे न कस्यचित् ॥५।५।३४॥

यह सुखदुःख न देह को है न सर्वातीत आत्मा को है अज्ञान को ही प्रतीत होता है। अज्ञान नाश होने पर किसी को सुखदु ख नहीं होता है।

न कस्यचित्सुखं किंचिद् दुखं च न कस्यचित्।
सर्वमात्ममयं शान्तमनन्तं पश्य राघव ॥५।५।३५॥

हे रामजो न किसी को कुछ सुख है न किसी को कुछ दुःख है अबको आत्ममय शान्त अनन्त देखिए।

एकातपत्रमवनौ गुरुणोपदिष्टम्
सम्यग्सुपालय चिरं समयेह दृष्ट्या।
राज्यं समस्तगुणरञ्जितराजलोकः
त्यागो न युक्त इह कर्मसु नाऽपि रागः ॥५।५।५४॥

हे रामजी ! पिता के दिए हुए एक छत्र पृथ्वी का राज्य राजाओं के गुणों से सम्पन्न होकर समस्त राजाओं और प्रजाओं को समान दृष्टि से चिरकाल तक पालन करो। कर्मफलों में राग न करते हुए कर्म करो कर्म का त्याग करना उचित नहीं है।

इमं विश्वपरिस्पदं करोमीत्यसवासनम् ।
प्रवर्तते यः कार्येषु स मुक्त इति मे मतिः ।।५।६।१।।

हे रामजी ! वासना रहित कर्तृत्वाभिमान से हीन होकर जो कर्म करता है वह कर्म करता हुआ भी मुक्त ही है ऐसी हमारी मति है ।

आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता करुणा ज्ञता ।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः ।।५।६।६।।

जो निष्काम कर्म करता है उसको आर्यता, हृद्यता, मैत्री, सौम्यता, करुणा और अपरोक्षज्ञान आदि गुण वैसे ही आश्रय करते हैं जैसे अन्तः पुर में स्त्रियाँ ।

अस्मिन संसारसंरम्भे जातानां देह धारिणाम् ।
अपवर्गक्षमौरागद्वाविमावुत्तमौ क्रमौ ।।५।७।२।।

हे रामजी इस संसाराडम्बर में उत्पन्न हुए देह धारिओं को अपवर्ग—मोक्ष देने में आगे कहे जाने वाले दो क्रम ही समर्थ है ।

एकस्तावद गुरुः प्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः ।
जन्मना जन्मभि वाऽपि सिद्धिदः समुदाहृतः ।।५।७।३।।
द्वितीयास्त्वात्मनैवाशु किञ्चिद्व्युत्पन्नचेतसाम् ।
भवति ज्ञानसम्प्राप्तिराकाशफलपातवत् ।।५।७।४।।

ऊपर कहे गए दो क्रमों में पहला क्रम तो गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करना है । फिर आचरण से धीरे-धीरे

एक जन्म अथवा अनेक जन्मों में सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है और दूसरा वह है कि दैवशात् अपने आप से उत्पन्न होने वाला जगत् तत्त्व का विचार अथवा विचार करने वालों की संगति से ज्ञान प्राप्त हो जाता है जैसे आकाश से गिरे हुए फल प्राप्त होते हैं उसी तरह से विचार से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

यस्मिन् सर्वं यस्य सर्वं यतः सर्वं यस्मादिदम् ।
येन सर्वं यद्धि सर्वं तत्सत्यं समुपास्महे ॥५।८।१२॥

जिसमें यह सब है जिसका यह सब है और जिससे यह सब है जिसके लिए सब है जिसके द्वारा सब है जो यह सब है उस सत्य की हम उपासना करते हैं।

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥५।८।१४॥

हृदयरूपी गुहा में स्थित दीप्यमान ईश्वर को त्याग कर अन्य देव के पास जो जाते हैं वह मानव अपने हाँथ से कौस्तुभ मणि को त्याग कर अन्य रत्न की चाहना करते हैं।

बुद्ध्वाप्यत्यन्तवैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः ।
बध्नाति भावनां भूयो नरो नासौ स गर्दभः ॥५।८।१६॥

जो योग्य पदार्थों में अत्यन्त निरसता जानकर भी उन भोगों में तृष्णा करता है वह दुर्मति मनुष्य नहीं गर्दभ है।

ते महाविभवा भोगास्ते सन्तः स्निग्धबान्धवाः ।

सर्वं स्मृतिपथं प्राप्तं वर्तमानेऽपि का धृतिः ॥५।६।२१॥

जिन चक्रवर्तियों के महा वैभव महान भोग और सुन्दर गुणों वाले स्नेहयुक्त बान्धव ये सभी इस समय स्मृति मात्र रह गए वर्तमान में जो वैभव और बन्धुबान्धव में प्रेम है उसमें भी क्या आस्था है ।

ब्राह्मणां कोट्यो याता गताः सर्गपरम्पराः ।

प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते ॥५।६।२४॥

करोड़ों ब्रह्म नष्ट हो गए और परम्परा से आती हुई करोड़ों बार सृष्टि नष्ट हुई बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा धूल में मिल गए तो मेंरे जीवन का क्या विश्वास ।

काकतालीययोगेन सम्पन्नायां जगत्स्थितौ ।

धूर्तेन कल्पिता व्यर्थं हेयोपादेयभावना ॥५।६:४६॥

काकतालीयन्याय से अकस्मात् अविवेक से सम्पन्न इस जगत् की स्थिति में भोग लम्पट मन ने व्यर्थ ही हेय और उपादेय की कल्पना कर रखी है ।

संसार एव दुखानां सीमान्त इति कथ्यते ।

तन्मध्यपतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥५।६।५२॥

संसार ही चरम दुखों की सीमा है उसमें गिरे हुए देह को सुख कैसे हो सकता है ।

सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयेव वयस्थया ।
पदमासाद्यते राम न नाम क्रियया अन्यथा ॥५।१२।१८॥

हे रामजी ? शास्त्रों के अभ्यास और विचार से परिष्कृत–शुद्ध अनुरागयुक्त सुन्दर अपनी बुद्धि से उत्तमपद प्राप्त होता है । अन्य क्रिया से नहीं होता ।

जनकस्येव सद्बुद्धेः स्वयमेव विलोकिनः ।
विकासमेत्ययं देही देवः प्रातरिवाम्बुजम् ॥५।१३।१२॥

जैसे प्रातःकाल कमल प्रकाशित होता है वैसे ही जनक के तुल्य स्वयं उत्पन्न हुई सद्बुद्धि से देह के भीतर ही आत्मसाक्षात्कार—आत्मा का विकाश हो जाता है ।

हेयोपादेयकलने क्षीणे यावन्नचेतसः ।
न तावद् समता भाति साभ्रे व्योम्नीव चन्द्रिका ॥५।१३।२३॥

जब तक चित्त से हेय और उपोदय की कल्पना क्षीण नहीं होती तब तक ब्रह्म की समता शोभित नहीं होती । जैसे मेघाच्छन्न आकाश में चाँदनी शोभित नहीं होती ।

चेत्येन सहिता यैषा चित्तद्ब्रह्मसनातनम् ।
चेत्येन सहिता यैषा चित्सेयं कलनोच्यते ॥५।१३।५३॥

चेत्य से रहित यह चित्त हो सनातन ब्रह्म है । और चेत्य से सहित जो चित है वही कलना स्फूर्णा हैं ।

कः किलात्र कुतः खेदो यन्मूर्खः परितप्यते ।
दुःखायैव हि जायन्ते करभाः प्राकृतास्तथा ॥५।१४।१५॥

यहाँ कौन है किससे खेद होता है। जिससे मूर्ख सन्तप्त होता है। करभ (ऊँट) और प्राकृत अज्ञानी जन दुःख के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

विनाशयैव जायन्ते जडा देहेष्ववुद्धयः ।
अनारतोद्याः पापाः बुद्बुदा ज लधेरिव ॥५।१४।१६॥

जड़ पापी और दुर्बुद्धि विनाश के लिए ही बार-बार उत्पन्न होते हैं जैसे समुद्र में बुलबुले उत्पन्न होते हैं।

कियन्तः पश्य पशवः प्रत्यहं प्रतिमंडलम् ।
सूनावद्भिर्निहन्यन्ते कैऽवात्र परिवेदना ॥५।१४।२०॥

देखो; प्रत्येक देशों में प्रदिदिन सूनावद्भिः-(कसाई) के द्वारा कितने पशु मारे जाते हैं। इसमें विलाप करने की कौन सी बात है।

जले जलचरव्यूहान् सूक्ष्मान् स्थूलो निकृन्तति ।
ग्रासार्थं निर्दयो मत्स्यः कैऽवात्र परिवेदना ॥५।१४।२०॥

निर्दय बड़ी मछलियाँ जल में अनेक छोटी-छोटी मछलियों को अपने आहार के लिए काटती है। इसका क्या विलाप करना।

यः प्रवृत्तः कुबुद्धीनां दुःखवान् दुःखमार्जने ।
स्वगतच्छत्रनिमृंण्टसूर्यांशुः खिद्यते नभः ॥५।१४।३७॥

जो दयावान् कुबुद्धियों के दुःख दूर करने में प्रवृत्त होता है वह मानव अपने छाते से आकाश के समस्त आतप को दूर करना चाहता है। भाव यह है कि न तो छाते से समस्त आतप दूर हो सकता है न कुबुद्धियों का दुःख दूर हो सकता है।

यद्यहङ्कारसंत्यागं करोमि तदिदं प्रभो।
त्यजामि देहनामानं सन्निवेशमशेषतः ॥५।१६।२॥

हे प्रभो ? यदि मैं अहंकार का त्याग करता हूँ तो समस्त देह का त्याग करना पड़ेगा। क्योंकि प्राण और अहंकार की एकता पहले कही गयी है।

अहङ्कारक्षये देहः किलावश्यं विनश्यति।
मूले क्रकचसंलूने सुमहानिव पादपः ॥५।१६।४॥

अहंकार के नष्ट होने पर यह देह तो निश्चय ही नष्ट हो जायगा जैसे मूल को आरा से काट देने पर महान वृक्ष कट जाताहै।

तत्कथं सन्त्यजाम्येनं जीवामि च कथं मुने।
एनमर्थं विनिश्चित्य वद मे वदतां वर ॥५।१६।५॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ मैं इस अहङ्कार का कैसे त्याग करूँ और कैसे जोऊ इसको विचार कर कहिए।

श्री वशिष्ठ उवाच

सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन ।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैः ज्ञेयो ध्येयश्च मानद ॥५।१६।६॥

हे कमल लोचन, सम्मान देने वाले रामजी ? विद्वानों के द्वारा ज्ञेय और ध्येय भेद से दो प्रकार का वासना का त्याग कहा गया है ।

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना कश्चिन्न मयैते विना किल ॥५।१६।७॥

मैं इन पदार्थों का जीवन हूँ और मेरा जीवन ये पदार्थ है इनके बिना मैं नहीं रह सकता हूँ और मेरे बिना ये नहीं रह सकते ।

इत्यन्तर्निश्चयं कृत्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥५।१६।८॥

अन्तः शीतलया बुद्ध्या कुर्वत्यालीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो राम स कीर्तितः ॥५।१६।६॥

ऐसा निश्चय करके मन से विचार करने पर पदार्थ और अहङ्कार को पृथक हो जाने से न मैं पदार्थ का हूं और न ये पदार्थ मेरे हैं यह अत्यन्त असत् है यह जानकर शान्त बुद्धि से जो वासना का त्याग है उसको उस वासना त्याग को ध्येय त्याग कहा गया है ।

सर्वं समतया बुद्ध्या यं कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहे ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥५।१६।१०॥

सारे जगत को ब्रह्मरूप से समान जानकर और वासना का क्षय करके जो निरहंकार निर्मम निर्विकल्प समाधि हो अथवा प्रारब्ध क्षय द्वारा जो अहंकार का त्याग है वह ज्ञेय वासना क्षय कहा गया है।

अहङ्कारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्त स मुच्यते ॥४।१६।११॥

अहंकारमयी वासना को त्यागकर जो लोक संग्रहोचित व्यवहार में स्थित रहता है वह ध्येय वासना त्यागी जीवन्मुक्त कहलाता है।

निर्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः शामं गतः ।
ज्ञेयत्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनंदन ॥५।१६।१२॥

हे रघुनंदन कलन रूप वासना को त्याग कर जो शाम प्राप्त होता है वह ज्ञेयत्यागी है उसको मुक्त समझो।

ध्येयं तं वासनात्यागं कृत्वा तिष्ठन्ति लीलया ।
जीवन्मुक्ताः महात्मानः सुजना जनकादयः ॥५।१६।१३॥

ध्येय स्वरूप वासना को त्याग करके लोक संग्रहोचित व्यवहार करनेवाले जीवन्मुक्त जनकादि सुजन महात्मा लोक में स्थित रहते हैं।

ज्ञेयं तु वासनात्यागं कृत्वोपशममागताः ।
विदेहमुक्तास्तिष्ठन्ति ब्रह्मण्येन परावरे ॥५।१६।१४॥

ज्ञेय वासना को त्याग करके जो उपशम प्राप्त हो गया है ऐसे विदेहमुक्त पुरुष पर ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

द्वावेव राघवत्यागौ समौ मुक्तपदे स्थितौ ।
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेव विगतज्वरौ ॥५।१६।१५॥

हे रामजी ! उपयुक्त दोनों त्याग समान हैं और मुक्ति पद में स्थित हैं। और दोनों ब्रह्म पद में प्राप्त विगत ज्वर कहे जाते हैं।

विदेहमुक्ता ये राम ते गिरामिह गोचरे ।
नैव तिष्ठन्ति तस्मात्त्वं जीवन्मुक्तिमिमांशृणु ॥५।१७।१॥

हे रामजी ? जो विदेह मुक्त है वे बाणी के विषय नहीं हो सकते इसलिए आप इस जीवन्मुक्ति को सुनिए।

प्राकृतान्येव कर्माणि मया वर्जितवाञ्छया ।
क्रियन्ते तृष्णयेमानि तां जीवन्मुक्ततां विदुः ॥५।१७।२॥

विषय की वासना से रहित प्राकृत कर्म जिनके द्वारा किए जाते हैं वर्णाश्रम की रक्षामात्र की तृष्णा से कर्म करने वाले को जीवन्मुक्त जानो।

आपादमस्तकमहं मातृपितृविनिसृतः ।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायासद्विलोकनात् ॥५।१६।१४॥

हे रामजी ! शिर से पैर तक मैं माता पिता के द्वारा निर्मित हूं इस प्रकार का असत्य दर्शन ही बन्ध है।

अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥५।१६।१५॥

मैं देह इन्द्रिय सबसे परे बाल के अग्रभाग से भी अत्यन्त सूक्ष्म हूं यह सत्पुरुषों का निश्चय मुक्ति का कारण है।

जगज्जालपदार्थात्मा सर्वमेवाहमक्षयः ।
तृतीयनिश्चयश्चेत्थं मोक्षायैव रघूद्वह ॥५।१६।१६॥

हे रघुवंशियों में श्रेष्ठ रामजी जगत के जितने पदार्थ हैं उनका स्वरूप भूत अविनाशी मैं ही हूँ और सब कुछ मैं ही हूं यह तीसरा निश्चय भी मोक्ष का कारण होता है।

जगद्वा सकलंराम शून्यं व्योमसमं सदा ।
एवमेष चतुर्थोऽन्यो निश्चयो मोक्ष सिद्धये ॥५।१७।१७॥

हम और यह सब जगत आकाश के समान सदा शून्य ही है यह चौथा निश्चय भी मोक्ष सिद्धि देने वाला होता है।

सर्वमात्माहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो याति मे मतिः ॥५।१७।२०॥

हे महामते ? मैं सर्वात्मा हूँ ऐसा जिसको निश्चय है उसकी बुद्धि फिर विषाद को नहीं प्राप्त होती है।

नैवाहमस्मि न च नाम जगन्ति सन्ति
सर्वं च विस्मितमिदं ननु निर्विकारम् ।
विज्ञानमात्रमवभाषत एव शान्तं
नासन्नसज्जगदिदं च वेत्ति विद्धि ।।५।१७।३२।।

न हम हैं न जगत ही हैं यह जो कुछ भी मान हो रहा है यह सब निर्विकार विज्ञान मात्र ही है। इसके साक्षात्कार मात्र से शान्त हुए पुरुष को यह जगत न सत् और न असत् ही प्रतीत होता है। ऐसा जानो।

विहरन्नपि संसारे जीवन्मुक्तमनामुनिः ।
आदिमध्यान्तविरसाविहरेज्जागतोर्गतीः ।।५।१८।२।।

जीवन्मुक्त मुनि संसार में विहार करते हुए भी आदि मध्य और अन्त जगत के समस्त विषयों को निरस तुच्छ देखता है।

पृष्टः सन् प्रकृतं वक्ति न पृष्टः स्थाणुवत्स्थितः ।
ईहितानीहितैर्मुक्तः संसारे नावसीदति ।।५।१८।८।।

पूछने पर प्रासंगिक विषयों को कहता है बिना पूछे मौन होकर स्थाणु के सदृश रहता है इच्छा और अनिच्छा से रहित पुरुष संसार में दुःखित नहीं होता है।

सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ।।५।१८।१६।।

सबसे प्रिय बोलता है और आक्षेप करने पर सुन्दरता-

पूर्वक समाधान करता है और प्राणियों के आशय को जानता है। ऐसा पुरुष संसार में कभी दुःखी नहीं होता।

परंपदमुपारूढो भङ्गुरां जागतीं स्थितिम्।
अन्तःशीतलया बुध्या हसन्निव निरीक्षते ॥५।१८।११॥

परं पद में आरूढ पुरुष विनाशशील जगत की स्थिति को अन्तःशीतल बुद्धि से उपहास करते हुए देखता है।

अन्तःसन्त्यक्त सर्वाशो वीतरागो विनासतः।
वहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥५।१८।१८॥

हेरामजी ? भीतर से सब आशाओं को त्यागकर विषयों में वासना (राग) रहित होकर बाहर से सब आचारों को करते हुए लोक में विहार करो।

सर्वशक्तेरियं शक्तिर्भ्रममात्रमयं तथा।
राम दृश्यत एवेदमाभानमतिभास्करम् ॥५।१८।४८॥

सर्वशक्ति की यह शक्ति है कि भ्रममात्र जो यह जगत है उसको नानारूप में स्पष्ट दिखाई देता है।

चिन्तनेनैधते चिन्ता इन्धनेनैव पावकः।
नश्यत्यचिन्तनेनैव विनेन्धनमिवानलः ॥५।२१।६॥

चिन्तन करने से चिन्ता बढ़ती है जैसे ईंधन से अग्नि बढ़ती है। ईंधन के बिना जैसे अग्नि बुझ जाती है। वैसे चिन्तन के अभाव में चिन्ता नष्ट हो जाती है।

पूर्णे मनसि सम्पूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानदगूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥५।२१।१४॥

मन के विशुद्ध ब्रह्मामृत के रस से पूर्ण होने पर यह सारा जगत् सुधा द्रव से पूर्ण हो जाता है। जैसे जूतों से ढके हुए पैर वाले को सारी पृथ्वी चर्म से ढकी हुई ही मालूम पड़ती है।

न तथा भाति पूर्णेन्दुर्न पूर्णःक्षीरसागरः ।
न लक्ष्मीवदनं कान्तं स्पृहाहीने यथा मनः ॥२।२१।२०॥

स्पृहा आशा से हीन मन जैसा शोभित होता है वैसा न तो चन्द्रमा न लक्ष्मी का ही मुख, और न क्षीरसागर ही शोभा पाता है।

पुनर्दिनं पुना रात्रिः पुनः कार्यपरम्परा ।
पुनः पुनरहं मन्ये प्राज्ञस्येयम् विडम्बना ॥५।२२।३४॥

दिन के बाद फिर दिन रात्रि के बाद पुनः रात्रि एक कार्य के बाद पुनः कार्य ये सब प्राज्ञों के लिए विडम्बना है ऐसा हम मानते हैं।

एक एवास्ति सुमहांस्तत्र राजा महाद्युतिः ।
सर्वकृत् सर्वगः सर्वः स च तूष्णीं व्यवस्थितः ॥५।२३।६॥

सर्वकर्ता और सर्वव्यापक कूटस्थ एकमात्र आत्मा ही महाप्रकाशवान् राजा है। अन्य कुछ भी नहीं।

तेन सङ्कल्पितो मंत्री सर्वसन्मन्त्रणोन्मुखः ।
अघटं घटयत्याशु घटं च घटयत्यलम् ॥५।२३।७॥

ऊपर कहे हुए राजा के मंत्रणाओं में तत्पर मंत्री का यह सङ्कल्प ही यह अघट घटना कर लेती है। और घटना को विघटन कर देती है।

भोक्तुं न किञ्चिच्छक्नोति न च जानाति किंचन ।
राजार्थं केवलं सर्वं करोत्यज्ञोऽपि सन्सदा ॥५।२३।८॥

अज्ञ—जड़ भी मनरूपी मंत्री स्वयं न तो भोगने में समर्थ है और न कुछ जानने में समर्थ है। किन्तु राजा के लिए सब कुछ करता है।

स एव सर्वकार्यैककर्ता तस्य महीपतेः ।
राजा केवलमेकान्ते स्वस्थ एवावतिष्ठति ॥५।२३।६॥

राजा के सब कार्यों का एक कर्ता मनरूपी मंत्री ही है। राजा तो केवल शान्त होकर बैठा रहता है।

दृष्टे तस्मिन् महीपाले स मंत्री वशमेति च ।
तस्मिंश्च मंत्रिण्याक्रान्ते स राजा दृश्यते पुनः ॥

राजा के दर्शन होने पर मंत्री वशीभूत हो जाते हैं और मंत्री के वशीभूत होने पर राजा दिखाई देता है ; भाव यह है मन के वशीभूत होने पर आत्मस्वरूप राजा का दर्शन हो जाता है।

यावन्न दृष्टो राजासौ तावन्मंत्री न जीयते ।
मंत्री च यावन्न जितस्तावद्राजा न दृश्यते ॥५।२४।६॥

जब तक राजा नहीं देखा जाता तब तक मंत्री पर विजय नहीं होती और मंत्री जब तक जीता नहीं जाता तब तक राजा दिखाई नहीं देता ।

अभ्यासेनोभयं तस्मात सममेव समारमेत् ।
राजसंदर्शनं तस्य मंत्रिणश्च पराजयम् ॥५।२४।८॥

इसलिए राजा के दर्शन और मंत्री के पराजय दोनों कार्य करने के लिए एक साथ अभ्यास करना चाहिए ।

राजा तु तत्र भगवानात्मा सर्वपदातिगः ।
तेन मंत्री कृतः प्राज्ञो मनो नाम महामते ॥५।२४।१३॥

सब पदों स्थानों का आक्रमण करने वाला वाणी और मन से परे भगवान आत्मा ही राजा है उन्होंने ही अपने प्राज्ञ मन को मंत्री बना रखा है ।

विषयान् प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा ।
अनास्था परमा ह्येषा सायुक्तिर्मनसो जये ॥५।२४।१७॥

हे पुत्र समस्त विषयों से सर्वथा निराश होना चाहिए ! विषयों में अनास्था होना ही मन रूपी मंत्री का विजय करने की युक्ति है ।

अभ्यासेन बिना कश्चिन्नाप्नोति विषया रतिम ।
अप्यतमन्तबली देही देशान्तरमिवागतिः ॥५।२४।२३॥

अत्यन्त बलवान् भी कोई व्यक्ति चले बिना देशान्तर नहीं प्राप्त कर सकता है। उसी तरह अभ्यास के बिना कोई भी विषयों में वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता है।

तस्माद्यावन्मनस्तावन्न दैवं नियतिर्मा च।
मनस्यन्तर्गते साधो यद्भवत्यस्तु तत्तथा ॥५।२४।३५॥

इसलिए जब तक मन है तब तक न दैव है न नियति है। मन के अस्त होने पर जो वस्तु जैसी है वैसी सदा बनी रहती है।

पुरुषार्थादृते पुत्र न किञ्चदिह विद्यते।
परं पौरुषमाश्रित्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥५।२४।३७॥

हे पुत्र पुरुषार्थ के बिना यहाँ कुछ है नहीं इसलिए परं पौरुष का अवलम्बन करके भोगों से वैराग्य करो। संसार के नाश करनेवाले भोगों में जब तक वैराग्य नहीं होगा तब तक पराशान्ति नहीं मिल सकती।

तस्मात् प्रज्ञानिकाषेण विचारेणातिचारुणा।
देवमालोकयेत् भोगाद् रतिं चावहरेत् समम् ॥५।२४।४४॥

इसलिए प्रज्ञा-बुद्धिरूपी मणि की उत्तम विचाररूपी कसौटी में कसकर पर ब्रह्म परमात्मा का दर्शन करो। और भोगों के प्रति वैराग्य करो।

विचारो भोगगर्हातो विचाराद् भोगगर्हणम्।
अन्योऽन्यमेते पूर्यते समुद्रजलदाविव ॥५।२४।६२॥

जैसे समुद्र किरणों के द्वारा मेघों को भरता है और मेघ वृष्टि के द्वारा समुद्र को भरते हैं वैसे ही भोग की निन्दा से विचार उत्पन्न होता है और विचार होने से भोगों में गर्हा घृणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार एक दूसरे को पूर्ण करते हैं।

देशक्रमेण धनमल्पविगर्हणेन
तेनांग साधुजनमजय मानपूर्वम्।
तत्सङ्गमोत्यविषयाद्यवहेलनेन
सम्यग्विचारविभवेन तवात्मलाभः ॥५।२४।७१॥

शुद्ध देश शुद्ध आचार के द्वारा अनिन्दनीय धन का उपार्जन करो और उपार्जित धन को भोगों में व्यय मत करो। किन्तु उस धन से साधुजनों का मानपूर्वक पूजन करो। और उनके सत्सङ्ग के द्वारा उत्पन्न हुए विषयों के अनादर से साधन सहित सम्यक् विचार के वैभव से आपको आत्मलाभ होगा।

अंगमंगेन सम्पीड्य मांसं मांसेन च स्त्रियः।
पुराहमभवं प्रीतो यत्तन्मोहविजृम्भितम् ॥५।२५।७॥

पहले स्त्री के अंग से अंग को मांस से मांसकों सम्मर्दन करके जो हम प्रसन्न होते थे वह हमारे अज्ञान का ही विलास था।

भोगान् प्रति विरक्तोऽस्मि महासंमोहदायिनः।
तत्त्वं ज्ञातुमिच्छामि महासंमोहहारि यत् ॥५।२६।८॥

हे भगवन् महाभोह देनेवाले भोगों से मैं विरक्त हो गया हूं महामोह का नाश करनेवाले तत्व को जानने की इच्छा करता हूं ।

कियन्मात्रमिदं भोगजालं किमयमेव वा ।
कोऽहं कस्त्वं किमेते वा लोका इति वदाशु मे ॥५।२६।६॥

इस भोग जाल की अवधि—उत्कर्ष कितना है इसकी प्रकृति क्या है मैं क्या हूं और ये भोग्य लोक क्या है कृपया इसको आप शीघ्र कहिए ।

चिदिहास्ति हि चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः ॥५।२६।११॥

चित्त ही यहाँ है और चिन्मात्र ही भोग है और चित्त ही तुम हो और हम भी चित्त ही है इसी प्रकार समस्त भोगों का समूह भी चित्त ही है । चिन्मात्र से भिन्न कुछ नहीं है ।

भव्योऽसि चेत्तदेतस्मात् सर्वमाप्नोषि निश्चयात् ।
नोचेत्तद् बह्वपि प्रोक्तं त्वयि भस्मनि हूयते ॥५।२६।१२॥

यदि तुम भव्य—श्रद्धालु और विवेकी हो तो इस निश्चय से सब कुछ प्राप्त कर सकते हो । यदि श्रद्धा और विवेक नहीं है तो बहुत कहना भी भस्म में हवन करने के बराबर व्यर्थ है ।

चिच्चेत्यकलना बन्धस्तन्मुक्तिर्मुक्तिरुच्यते ।
चिदचेत्याऽखिलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः ॥५।२६।१३॥

चित्त की जो चेत्याकारकलना कल्पना है वही बन्ध है और कल्पना से रहित होना मुक्ति है। चेत्याकार रहित चित्त ही पूर्ण आत्मा है यह सब सिद्धान्त का संग्रह है।

राजन् यावदयं देहस्तावन्मुक्तधियामपि।
यथाप्राप्तक्रियात्त्यागो रोचते न स्वभावतः ।।५।२६।१६।।

हे राजन्! जबतक यह देह है तब तक मुक्ति बुद्धि वालों को भी यथा प्राप्तक्रिया (आचार) का त्याग स्वभावतः अच्छा नहीं लगता।

इदं जगज्जगदिति चिता यदि न चेत्यते।
तत्किं जगत्वं जगतो नभस्त्वं नभसोऽथ किम् ।।५।१६।१७।।

यदि यह जगत् जगत है ऐसा चित्त के द्वारा चेतित न होता तो इसका स्वरूप क्या होता और आकाश में आकाशत्व (शून्यता) क्या होती।

न द्वेषोऽस्ति न रागोऽस्ति न मनो नास्यवृत्तयः।
चिन्मात्रस्यातिशुद्धस्य विकल्पकलना कुतः ।।५।२७।१७।।

न मुझमें द्वेष है न राग है न मन है न मनकी वृत्तियाँ है चिन्मात्र अतिशुद्ध मुझमें विकल्प की कल्पना कैसे हो सकती है। अर्थात् कोई कल्पना नहीं है।

चेत्यरंजनरिक्ताय विमुक्ताय महात्मने।
प्रत्यक्चेतनरूपाय स्वरूपाय नमोऽस्तुते ।।५।२७।२२।।

चेत्य के रंजन–(चित्त की कलना) से रहित विमुक्त महात्मा प्रत्यक् चेतनरूप स्वरूप तुमको नमस्कार है।

मोक्तमिच्छाम्यहं कस्माद् बद्धो केनास्मिन् वै पुरा।
अबद्धो मोक्षमिच्छामि केऽयं बालविडम्बना ॥५।२६।१०॥

मैं पहले किससे बँधा ही हूँ कि मोक्ष चाहता हूँ बिना बँधे मोक्ष चाहता हूँ यह मूर्खता नहीं तो और क्या है।

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति मौर्ख्यं मे क्षयमागतम्।
किं मे ध्यानविलासेन किं वा ध्यानेन मे भवेत् ॥५।२६।११

हमारा अज्ञान दूर हो गया अतः मुझको न बन्ध है न मुझको मोक्ष है ध्यान करने अथवा न ध्यान करने से भी क्या।

न मे वाञ्छा परे तत्त्वे न मे वाञ्छा जगत्स्थितौ।
न मे ध्यानदशाकार्यं न कार्यं विभवेन मे ॥५।२६।१४॥

न मुझको परम तत्त्व की अभिलाषा है और न जगत की स्थिति में वाञ्छा है। न ध्यान से कुछ लाभ होना है और न वैभव धन सम्पत्ति से कोई प्रयोजन है।

न किंचिदपि कर्तव्यं यदि नाम मयाधुना।
तत्कस्मान्न करोमीदं किंचित प्रकृतकर्म वै ॥५।२६।१८॥

यदि इस समय मेरे लिए कुछ कर्तव्य नहीं है तो यह प्रस्तुत राज्य पालनरूप कर्म ही क्यों न करूँ।

अथ वैरोचनिस्तत्र ध्येयत्यागमयात्मना।
मनसा सकलान्येव राजकार्याणि संव्यधात् ॥५।२६।२१॥

ऐसा समझकर विरोचन के पुत्र बलि ने ध्येय त्याग मन से समस्त राज्यकार्यों का सम्यक् संचालन किया।

सर्वात्मना सर्वधिया सर्वसंरम्भरंहसा।
स एव शरणं देवो गतिरस्तीह नाऽन्यथा ॥५।३१।३२॥

जीवन में सब वस्तुओं से सब प्रकार की बुद्धियों से सब प्रकार के कर्मों से सबके लिए एकमात्र भगवान ही शरण है दूसरा कोई शरण नहीं है।

अस्मान्निमेषादारभ्य नारायणमजं सदा।
संप्रपन्नोऽस्मि सर्वत्र नारायणमयो ह्यहम् ॥५।३१।३७॥

इस समय से आरम्भ करके अजन्मा नारायण की शरण में मैं हूँ सब देशकाल में नारायण ही मैं हूं।

नमो नारायणायेति मंत्रः सर्वार्थसाधकः।
नाऽपैति मम हृत्कोशादाकाशादिव मारुतः ॥५।३१।४८॥

जैसे आकाश कोश से वायु दूर नहीं होता वैसे ही सब पुरुषार्थों का साधन नारायण मंत्र मेरे हृदयकोश से अलग नहीं हो रहा है।

हरिराशा हरिर्व्योम हरिरुर्वी हरिर्जगत्।
अहं हरिरमेयात्मा जातो विष्णुमयो ह्यहम् ॥५।३१।३९॥

दिशाएँ हरि है, आकाश हरि है, पृथ्वी हरि है, सारा जगत् भी हरि है, अप्रमेयात्मा हरि मैं हूँ। अतः मैं विष्णुमय ही हूँ।

अविष्णुः पूजयन्विष्णुं न पूजा फलभाग्भवेत ।
विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुमयं विष्णुरहं स्थितम् ॥५।३१।४०॥

स्वयं विष्णु बने बिना जो विष्णु का पूजन करता है उस पूजन के फल का भागी नहीं होता है। अतः विष्णु होकर ही विष्णु की पूजा करनी चाहिए। 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' मैं विष्णुरूप में स्थित हुआ हूँ और विष्णु की पूजा करूँगा।

कमलिनीपरुषोषरभूगता
सुखयतीह यथा न दुराश्रया।
दितिसुतोऽपि हि माधवभक्तिमान्
इति कथा न तथेश सुखाय नः ॥५।३२।३३॥

हे भगवन्! जैसे कठिन ऊषरभूमि में कमलिनी उगी हुई है' यह कथन सुखी नहीं बनाता क्योंकि ऊषरभूमि तो तृणमात्र का आश्रय नहीं है फिर कमलिनी का आश्रय कैसे होगा। वैसे दैत्य होकर भी माधव का भक्त है यह कथा भी सुख (विश्वास) नहीं देती।

विबुधाः मा विषण्णाःस्थ प्रह्लादो भक्तिमानिति।
पाश्चात्यं जन्म तस्येदं मोक्षार्होऽसावरिन्दमः ॥५।३३।२॥

उपरोक्त देवताओं की बात सुनकर भगवान बोले हे देववृन्द प्रहलाद भक्तिमान हो गया है यह जानकर आप लोग खेद न करें। प्रहलाद का अन्तिम जन्म है वह मोक्ष प्राप्ति

के योग्य है तुच्छ राज्य नहीं चाहता।

गुणवान् निर्गुणो जात इत्यनर्थक्रमं विदुः।
निर्गुणो गुणवान् जात इत्याहुः सिद्धिदं क्रमम् ॥५।३३।४

गुणवान् व्यक्ति यदि निर्गुण हो जाय तो यह पुरुषार्थ का घातक है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। और यदि निर्गुण गुणवान हो जाय तो सब पुरुषार्थों का देने वाला हो जाय। यही क्रम है।

सर्वसंभ्रमसंशान्त्यै परमाय फलाय च।
ब्रह्मविश्रान्तिपर्यन्तो विचारोऽस्तु तवानघ ॥५।३४।३॥

हे निष्पाप ? सर्वप्रकार के भ्रम निवृत्ति के लिए और मुक्तिरूपी परम फल के लिए ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त विचार करते रहो कि—

किमहं नाम तावत स्यां योऽस्मिन्भुवनऽम्बरे।
वच्मि गच्छामि तिष्ठामि प्रयत्नेनाऽऽहरामि च ॥५।३४।८॥

इस संसाररूपी आडम्बर में मैं बोलता हूं चलता हूं बैठता हूँ सब वस्तुओं का प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ। वह कौन हूँ। यह विचार करना चाहिए। आगे विचार का क्रम लिखते हैं।

जगत्तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम्।
कालेनाल्पेन विलयी देहो नाऽहं तु चेतनः ॥५।३४।९॥

मैं यह जगत नहीं हूं वृक्ष तृण पर्वत यह सभी मैं नहीं

हूं। थोड़े समय में विलय (नष्ट) होने वाला देह भी मैं नहीं हूं। क्योंकि ये सब जड़ है। किन्तु हम तो चेतन आत्मा है। (जो बाह्य अत्यन्त जड़ है वह मैं आत्मा कैसे हो सकता हूं।)

निर्ममोऽमननः शान्तो गतपंचेन्द्रियभ्रमः।
शुद्धचेतन एवाऽहं कलाकलनवर्जितः ॥५।३४।१६॥

ममता से रहित, अमन—(मननरूप व्यापार) से रहित, पाँच इन्द्रियों के भ्रम से रहित और कलाकलना से रहित शुद्ध शान्त चेतन मैं हूँ।

अनाकारात् कारणाच्च सर्वकारण कारणात्।
एतस्मादिदमुत्पन्नं जगच्छैत्यं हिमादिव ॥५।३४।२७॥

जैसे वर्फ से शीतलता उत्पन्न होती है वैसे ही निराकार कारण से सब कारणों के कारण से यह दृश्य जगत उत्पन्न हुआ है।

यत्किञ्चिदिदं दृश्यं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
सर्वसङ्कल्परहितं तच्चित्तत्त्वमहं परम् ॥३४।५।५३॥

यह जो कुछ भी स्थावर जङ्गम दृश्य जगत् है वह सब संकल्प रहित है वह परं चिदात्मतत्व मैं ही हूँ।

सर्वभावान्तरस्थाय चेत्यमुक्तचिदात्मना।
प्रत्यक्चेतनरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥३४।५।६६॥

चेत्य रहित सब पदार्थों के भीतर विद्यमान चिदात्मा प्रत्यक् चेतन स्वरूप मेरे लिए बार-बार नमस्कार है।

त्यक्त्वा पदमिदं मूर्खो मितमेति न पंडितः।
उष्ट्रो हि त्यक्तसुलतः कंटकं याति नेतरः ॥५।३४।७७॥

मूर्ख ही इस परम पद को त्यागकर अन्य वस्तु की चाहना करता है पंडित नहीं जैसे ऊट ही सुन्दर लता को त्यागकर काँटों की ओर जाता है। दूसरा जीव नहीं।

परां दृष्टिमिमां त्यक्त्वा दग्धराज्ये रमेत कः।
कस्त्यक्त्वेक्षुरसं प्राज्ञः कटुनिम्बपयः पिबेत् ॥५।३४।७८॥

इस परं दृष्टि को त्यागकर निन्दित राज्य में कौन रमण करता है कौन बुद्धिमान इक्षुरस को त्यागकर कडुवानीम का रस पियेगा।

नरकस्वर्गमोक्षादिभ्रमाः सत्यामहं कृतौ।
भित्तावेव प्रवर्त्तन्ते चित्रेहा न नभस्थले ॥५।३५।६३॥

जैसे चित्र निर्माण की चेष्टा भित्ति में ही होती है आकाश में नहीं। वैसे ही अहंकार रहने पर ही नरक स्वर्ग मोक्ष आदि का भ्रम होता है।

स्थैर्यं देहस्य दृष्टस्य जीवितं प्रोच्यते जनैः।
देहान्तरार्थं देहस्य संत्यागो मरणं स्मृतम् ॥५।४०।१॥

दृश्य देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं। देहान्तर के लिए देहत्याग को मरण कहते हैं।

यो हि विष्णुः स एवात्मा यो ह्यात्मासौ जनार्दनः।
विष्ण्वात्मशब्दौ पर्यायौ यथा विटपिपादपौ ॥५।४३।६॥

जो विष्णु है वहीं आत्मा है जो आत्मा है वहीं जनार्दन है। विष्णु और आत्मा शब्द दोनों पर्यायवाचक है। जैसे विटपी और पादप।

मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मदर्शने।
गौणो वरादिकोहेतुर्मुख्यहेतुपरोभव ॥५।४३।११॥

स्वात्मदर्शन में पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न हुआ विचार ही मुख्य कारण है वर आदि गौण कारण है इसीलिए मुख्य कारण का ही यत्न करो।

यद्यदासाद्यते किंचित् केनचित् क्वचिदेव हि।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या तल्लभ्यते नान्यतः क्वचित् ॥५।४३।१३॥

जहाँ कहीं भी किसी के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है वह अपने शुभ प्रयत्न से ही प्राप्त होता है दूसरे से नहीं।

विना पुरुषयत्नेन दृश्यते चेज्जनार्दनः।
मृगपक्षिगणं कस्मात्तदासौ नोद्धरत्यजः ॥५।४३।१५॥

पुरुष प्रयत्न के बिना यदि भगवान जनार्दन का दर्शन हो जाता है तब तो मृगपक्षिगण को भी आज भगवान उद्धार क्यों नहीं करते।

गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात् पौरुषादृते।
उष्ट्रं दान्तं बलीमर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ ॥५।४३।१६॥

अपना पुरुषार्थ किए बिना गुरु यदि अज्ञानियों का

उद्धार करते हैं तो ऊटों बैलों का भी उद्धार क्यों नहीं कर देते ।

क्रियते माधवादीनां प्रणयप्रार्थना स्वयम् ।
तथैव क्रियते कस्मान्न स्वकस्यैव चेतसे ॥५।४३।२५॥

जैसे विष्णु आदि देवताओं की विनय और प्रार्थना की जाती है वैसे ही अपने ही चित्त की प्रणय प्रार्थना क्यों नहीं की जा सकती है ।

सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः ।
तं परित्यज्य ये यान्ति वहिर्विष्णुं नराधमाः ॥५।४३।२६॥

सब प्राणि के भीतर भगवान् विष्णु स्थित हैं उनको छोड़ करके जो बाहर विष्णु का पूजन करते हैं वे नराधम कहे जाते हैं ।

तावज्जन्म सहस्त्राणि भ्रमन्ति भुविमानवाः ।
यावन्नोपशमं याति मनो मत्तमहार्णवः ॥५।४३।३७॥

तब तक मनुष्य हजारों जन्म तक संसार में भटकता रहता है जब तक मनरूपी महासमुद्र का उपशम (शान्ति) नहीं हो जाता ।

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव ।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः ॥५।५०।६॥

हे राघव इस संसाररूपी माया चक्र को महानाभि घूमने वाली चित्त को समझो ।

तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।
गृहीतनाभिवहनान्मायाचक्रं निरुध्यते ॥५।५०।७॥

पुरुष प्रयत्न से बुद्धि के द्वारा चित्त रूपी नाभि के रुकने पर माया चक्र भ्रमण करने से रुक जाती है ।

चित्तं नाभिमवष्टभ्य तस्माद् यत्नेन राघव ।
संसारचक्रं वहनादात्मनः परिरोधय ॥५।५०।१०॥

हे राघव ! यत्नपूर्वक चित्तरूपी नाभिको रोककर जन्म मरणरूपी—संसाररूपी चक्र में पड़े हुए आत्मा को रोकिए ।

तस्मात् राघव संत्यज्य तीर्थदानतपःक्रिया ।
श्रेयसे परमायान्तश्चित्तमेव वशं कुरु ॥५।५०।१३॥

हे राम जी तीर्थ सेवन, दान, तप आदि क्रिया मार्गों को छोड़कर परंकल्याण के लिए चित्त को ही वश में करो ।

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक् चेतनमुच्यते ।
निर्मनस्कं स्वभावं तन्न तत्र कलनामलः ॥५।५०।२०॥

चित्त से रहित चेतन ही प्रत्यग् चेतन (आत्मा) कहलाता है वह स्वभावतः मन रहित हैं । और उसमें कल्पनारूप मल का सम्भव नहीं है ।

मुख्यं कारणमात्मैव परमात्मावलोकने ।
अगाधे पतितं रत्नं रत्नेनैवाऽवलोक्यते ॥५।५०।२७॥

परमात्मा के दर्शन में मुख्य कारण आत्मा मन ही है अगाध जल में पड़ा हुआ रत्न रत्न से ही देखा जाता है ।

अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥५।५०।५८॥

अहंकार के विकास से ममतारूपीमल आशक्ति में यह शरीर मेरा है इस भावना से चित्त स्थूलता को प्राप्त हो जाता है ।

स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥५।५०।६१॥

स्त्री पुत्र आदि में स्नेह से धन आदि के लाभ से इनमें जो रमणीयता—(प्रीति) प्रतीति होती है उससे चित्त स्थूल होता जाता है ।

अयि मूर्ख मनः कोऽर्थस्तव संसारवृत्तिभिः ।
धीमन्तो न निषेवन्ते पर्यन्ते दुःखदां क्रियाम् ॥५।५०।६१॥

हे मूर्ख मन ? संसार के वृत्ति—(व्यापार) व्यवहार से तुमको क्या सम्बन्ध (प्रयोजन) है । बुद्धिमान् लोग परिणामतः दुःख देने वाले कर्मों का सेवन नहीं करते ।

अनुधावति यो भोगांस्त्यक्त्वा शमरसायनम् ।
संत्यज्य मन्दारवनं स याति विषजंगलम् ॥५।५२।६॥

शम-शान्ति रूप रसायन को त्यागकर जो विषयभोगों की ओर दौड़ता है वह मानव मन्दार (कल्पवृक्ष) के वन का त्याग करके विष वृक्षों से भरे जंगल में जाता है ।

अहंकारभ्रमस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनः स्मरणं मन्ये नूनं विस्मरणं वरम् ॥५।५३।२५॥

आकाश की नीलिमा के समान उत्पन्न हुए इस अहंकार-रूपी भ्रम का पुनः स्मरण न होकर विस्मरण होना ही श्रेष्ट है।

मरणं जीवितोपान्तं जीवितं मरणान्तगम् ।
भावोऽभावाद् व्यवच्छिन्नः कष्टेयं दुःखवेदना ॥५।५३।२६॥

मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्म तक रहता है और जीवन आदि ऐहिक दुःख मरणपर्यन्त रहता है। अतः भाव अभाव से विच्छेद करने वाला यह दुःख बड़ा कष्टकारक है।

मनः शत्रुः शरीरस्य शरीरं मनसो रिपुः ।
एकाभावेन नश्येते आधाराधेयकार्यवत् ॥५।५३।५१॥

मन का शत्रु शरीर है शरीर का शत्रु मन है एक के नाश होने पर दोनों का नाश हो जाता है जैसे आधार नाश होने पर आधेय नष्ट हो जाता है।

क्षीयते मनसि क्षीणे देहप्रक्षीणवासनः ।
मनो न क्षीयते क्षीणे देहे तत् क्षपयेन्मनः ॥५।५३।६६॥

मन के नाश होने पर वासना रहित देह भी नाश हो जाता है। किन्तु देह के क्षीण होने पर मन नाश नहीं होता। अतः मन नाश का ही उपाय करना चाहिए।

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्तसामान्य रूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥५.५५।२॥

अभाव की अत्यन्त भावना से जब चित्त का अत्यन्त संक्षय होने से चित्त सामान्य आत्मा की ही सत्ता शेष रह जाती है ।

यदा सर्वमिदं किंचित् सबाह्याभ्यन्तरात्मकम् ।
अपलप्य वशेच्चेतः सत्ता सामान्यता तदा ॥५।५५।४॥

जब बाहर भीतर जो कुछ अभिव्यक्त वस्तु है । उसका अपलाप—मिथ्यात्व की अनुभूति हो जाय तब उसकाल में सत्ता सामान्य को ही शेष जानना चाहिए ।

वैराग्याभ्यासशास्त्रार्थ प्रज्ञागुरुयमक्रमैः ।
पदमासाद्यते पुण्यं प्रज्ञयैकैकयाथवा ॥५।५६।३॥

वैराग्य और अभ्यास शास्त्र का अर्थ प्रज्ञा गुरु को उपदेश और यम नियम के क्रम से पुण्य पद (अपने स्वरूप) को प्राप्त करता है अथवा केवल प्रज्ञा से स्वरूप प्राप्त करता है ।

सम्प्रबोधवती तीक्ष्णा कंलकरहिता मतिः ।
सर्वसामग्रहीनापि पदं प्राप्नोति साम्प्रतम् ॥५।५६।४॥

सब सामग्री से हीन होने पर भी सम्यग् बोध युक्त दोष रहित तीक्ष्ण बुद्धि से जीव को परमपद की प्राप्ति होती है ।

भगवन् भूतभव्येश कश्चिज्जातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥५।५६।५॥

हे भगवन् ? त्रिकालज्ञ कोई प्रबुद्ध पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ के समान विश्रान्त रहता है।

कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियतः स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् वद ॥५।५६।६॥

और दूसरा एकान्त का आश्रय लेकर समाधि में ही स्थित रहता है उन दोनों में कौन श्रेष्ठ है।

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता यासौ समाधिरिति कथ्यते ॥५।५६।७॥

इस गुण समाहार—(त्रिगुणात्मक बिश्व) को अनात्मरूप से देखने वाले की जो अन्तःशीतलता (ज्ञाननिष्ठा की फलभूत पूर्णकान्ता) है वही समाधि कहीं जाती है।

दृश्यैर्मनसि सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित् संव्यवहारस्थः कश्चित् ध्याने व्यवस्थितः ॥५।५६।८

मन में दृश्य पदार्थों से सम्बन्ध है किन्तु मन मेरा नहीं है मन मिथ्या है हम तो मन के द्रष्टा है। ऐसा निश्चय करके अन्तःकरण को शीतल ही बनाए हुए कोई व्यवहार में रत रहता है कोई ध्यान में लगा रहता है। यह अन्तःकरण की शीतलता अनन्त पुण्य का फल है।

समाधिस्थानकस्यास्य चेतश्चेत् वृत्तिचंचलम् ।
तत्तस्य तत्समाधाने सममुन्मत्ततागडवैः ॥५।५६ १०॥

समाधि में स्थित होने पर भी यदि चित्तवृत्ति चंचल हो तो वह समाधि उन्मत्त पुरुष के ताण्डव तुल्य है।

चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृत्तिः परा ॥५।५६।१५॥

मन के अकर्तृत्व को ही उत्तम समाधि समझो उसी को केवलीभाव भी जानो। वहीं पर निर्वृति-(परं शान्ति) है।

गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहं कृतिदोषाणां विजना वनभूमया ॥५।५६।२२॥

अहंकारादि दोष से रहित समाहित चित्त वाले गृहस्थ के लिए घर ही निर्जन वन है।

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥५।५६।३५॥

द्यौ, द्यु लोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ यह सब अन्तःकरण के बाहरी अंश के तुल्य है।

न बहिष्ठं न चान्तस्थं क्वचित किञ्चन विद्यते ।
यद्यथावत्चितं चित्त्वा तत्तथा तत्वमुत्थितम् ॥५।५६।३७॥

कोई वस्तु न बाहर है न भीतर। कहीं भी कुछ नहीं है। (केवल वासना के बल से विकास हुआ सा प्रतीत होता है।) जब जैसा चित्त ने चेता बस वैसा ही तत्त्व बन गया।

आत्मवत् सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
स्वभावादेव न भयाद् यः पश्यति स पश्यति ॥५।५६।५६॥

जो सब भूतों को आत्मवत् पर द्रव्यों को लोष्ठ-मिट्टी के ढेला के तुल्य भय से नहीं किन्तु स्वभावतः देखता है वही यथार्थ देखता है ।

अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यदवभासनम् ।
तदहन्तारिश्चिच्चारि जीव इत्येव वेद सः ॥५।५७।१२॥

अन्तरात्मा का जो स्वतः अवभासन है वहीं अंहता त्वमतो वृत्तिभेद से चिदाभास में अनुगत होकर के जीव कहलाता है ।

सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचेत्य चिह्नम् ।
सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी तु दृष्टि-
र्बोधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥५।५७।२७॥

समस्त जगत् प्रशान्त अज, एक, आदि मध्य शून्य प्रकाशरूप ब्रह्म हो है। इस प्रकार की शब्दमयी दृष्टिपदों से बोध होने वाले अर्थों के लिए ही है। साक्षात् शब्द से तो वस्तु का भान होना सम्भव नहीं है। अतः ओं इस पद के द्वारा भागत्यागलक्षणा से अद्वयपूर्ण एक रस ब्रह्म का ही बोध होता है।

स्वेनैव मनसा स्वानि स्वशरीरगतानि च ।
विचारयेन्द्रियाण्यन्तः कीदृशान्यथ कानि च ॥५।५८।३१॥

हे राजन् आप अपने मन से ही भीतर विचार कीजिए जो अपने शरीर में रहने वाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि वस्तुएँ है वह तत्त्वतः कौन है । और उनका क्या प्रकार है ।

कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥५।५८।३२॥

हम कौन हैं कैसे हैं यह दिखाई देनेवाला जगत् क्या है जन्म मरण कैसे होता है इसको अपने हृदय में विचार करो । इससे अनायासपूर्ण महत्ता प्राप्त हो जायगी और अज्ञान से भासने वाला नानात्व मन से निकल जायगा ।

यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ॥५।५८।४४॥

जब तक समस्त दृश्य का त्याग नहीं करोगे तब तक आत्मा का बोध नहीं होगा । सब अवस्थाओं का त्याग कर देने पर अर्थात् (जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति) तीनों अवस्थाओं के दृश्य को त्याग देने पर शेष आत्मा ही कहा जाता है ।

यावदन्यन्न संत्यक्तं तावत्सामान्यमेव हि ।
वस्तु नासाद्यते साधो स्वात्मलाभे तु का कथा ॥५।५८।४५॥

सज्जनों जब तक अन्य विरोधी वस्तु का त्याग नहीं

होगा तब तक तो सामान्य वस्तु भी नहीं मिलती फिर आत्मा नहीं मिलता इसमें क्या बात है।

स्वात्मावलोकनार्थं तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत्।
सर्वं किञ्चित् परित्यज्य यद् दृष्टं तत् परं पदम् ॥५।५८।४७॥

आत्मा को साक्षात् करने के लिए सब विषयों का परित्याग करना चाहिए। सब विषयों के त्याग करने पर जो शेष रहता है वही परम पद है।

नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः।
आत्मैकतत्त्वसन्निष्ठाः सदैव सुसमाश्रयः ॥५।६२।६॥

जो प्रबुद्ध चित्त वाले हैं। वे नित्य ही जगत् की सारी क्रिया करते हुए भी आत्मैकत्व निष्ठा होने के कारण सदा समाहित–(समाधि सम्पन्न) ही हैं।

तत्त्वावबोधो भगवन् सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन ननु तूष्णीमवस्थितिः ॥५।६२।८॥

हे भगवन् समस्त आशारूपी तृण के लिए अग्निरूपी तत्त्वावबोध को ही समाधि कहते है। चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं है।

देहे दुःखादि संक्षुब्धे का नः क्षतिरुपस्थिता।
रथे विधुरिते भग्ने सारथेः केन खंडना ॥५।६७।५॥

देह दुःखों से अत्यन्त क्षुब्ध हो जाय तो हमें (आत्मा

को) क्या हानि है। जैसे रथ खो जाय अथवा टूट जाय तो सारथि को क्या हानि है।

यथा दर्पणवीच्यादौ प्रतिबिम्बानि वस्तुतः।
नाऽसत्यानि च सत्यानि शरीराणि तथात्मनः॥५।६७।१२॥

जैसे दर्पण और तरङ्ग आदि में प्रतिबिम्ब वास्तव में न सत्य है न असत्य किन्तु अनिर्वचनीय है। वैसे ही आत्मा में प्रतीयमान शरीर भी अनिर्वचनीय ही है।

दृश्यदर्शनसम्बन्धे सुखसंविदमनुत्तमाः।
ददात्यज्ञाय संसारं ज्ञायमोक्षं सदोदयम्॥५।७२।३४॥

दर्शन और दृश्य के सम्बन्ध होने पर अज्ञानी को उत्तम सुख होता है और ज्ञानी को विवेक होने से मोक्ष होता है।

नात्माऽस्त्यनुमया राम न चाप्तवचनादिना।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः॥५।७३।१५॥

हे रामजी ! आत्मा की सत्ता अनुमान से अथवा आप्त वचन से नहीं प्रतीत होती किन्तु सर्वदा सब प्रकार से अनुभव से ही प्रत्यक्ष स्फुट प्रतीत होती हैं।

संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिषु कालेषु भास्वरः।
सूक्ष्मत्वात् सुमहत्वाच्च केवलं न विभाव्यते॥५।७३।२०॥

हे रामजी ! भास्वर प्रकासरूप आत्मा तीनों काल में सब जगह अवस्थित हैं लेकिन सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण उसका परिज्ञान नहीं होता।

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम्॥५।७३।३५॥

मोक्ष न तो आकाश के उपर है न पाताल में न भूतल में किन्तु सम्यग्ज्ञान से विबोधित माने (शुद्ध) चित्त ही मोक्ष है।

देहस्यास्य जडस्यार्थे किं भोगैरिति निश्चयः ।
भिनत्त्याशामलं ज्ञाता पंजरे केसरी यथा ॥५।७४।२३॥

इस जड़ देह के लिए भोग की क्या आवश्यकता है। ऐसा जिसको निश्चय है आशारूपी मल को नष्ट कर देता है जैसे सिह पिजड़े में बैठकर आशाओं को नष्ट कर देता है।

सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासंपरित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥५।७४।३८॥

सर्वारम्भ–(लौकिक वैदिक समस्त कर्मों) का त्याग करने वाला एवं समस्त उपाधियों से रहित और समस्त आशाओं का त्याग करने वाला पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

न तथा सुखयत्यङ्ग संलग्ना वरवर्णिनी ।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीला निराशता ॥५।७४।४०॥

अरे भई चन्द्रमा के विम्ब के तुल्य शीतल निराशा आत्मा को जैसा सुख देती है वैसा अपने अङ्ग में आलिङ्गित वरर्वाणनी (कमनीयकान्ता) पुरुष को सुख नहीं देती।

कान्तामुद्दामदनी लोलां वनलतामिव ।
जर्जरोपलपांञ्चाली समांपश्यति धीरधीः ॥५।७४।५८॥

जो धीर तत्वज्ञानी है वे बनलता की तरह अत्यन्त चपल मद भरे यौवन वाली कान्ता को जर्जर पत्थर प्रतिमा के समान देखता है ।

आमूलान्मनसि क्षीणे संकल्पस्य कथा चका ।
तिलेष्वेवातिदग्धेषु तैलस्य कलना कुतः ॥५।७७।४३॥

मन के आमूल क्षीण होने पर संकल्प कैसे हो सकता है अर्थात नहीं हो सकता जैसे तिल के जल जाने पर उसमें तेल की कल्पना कैसे हो सकती है ।

यथाऽऽलातपरिस्पन्दादग्निचक्रं प्रदृश्यते ।
असदेव सदाभासं चित्तस्पन्दात्तथा जगत् ॥५।७८।१॥

हे राम जी ! जैसे आलात् जलती हुई लकड़ी (लुआठी) घुमाने से असत्य अग्नि चक्र दिखाई देता है वैसे ही चित्त के स्फुरण होने से असत् ही जगत सत् के समान दिखाई देता है ।

येन प्रस्पन्दते चित्तं येन न स्पन्दते तथा ।
तद् ब्रह्मन् ब्रूहि मे येन न चित्तं स्पन्दते तथा ॥५।७८।४॥

हे ब्रह्मन ! जिस कारण से चित्त स्पन्दित (स्फुरित) होता है और जिस कारण से चित्त स्फुरण नहीं होता दोनों कारण कहिए। और मन जिस उपाय से स्पन्दन न करे उस उपाय को कहिए ।

यथा शौक्ल्यहिमेराम तिलतैललवौ यथा ।
तथा कुसुमसंगन्धे तथोष्ण्यं दहने यथा ॥५।७८।५॥

तथा राघव संश्लिष्टौ चित्तस्पन्दौ तथैव हि ।
अभिन्नौ केवलं मिथ्याभेदः कल्पित एतयोः ॥५।७८।६॥

हे रामजी ! शुक्लत्व और हिम एवं तिल और तेल तथा कुसुम और सुगन्ध अग्नि और उष्णता यह परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित और अभिन्न है इनमें भेद केवल कल्पना से है । उसी प्रकार चित्त और स्पन्दन परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध और अभिन्न ही हैं । इनमें भेद काल्पनिक ही हैं । यथार्थं में अभेद हैं । और कल्पना से भेद की प्रतीति होती है । अतः भेदांश मिथ्या है और अभेदांश यथार्थं हैं ।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥५।७८।८॥

हे रामजी ! चित्त नाश के दो उपाय बताए गए है योग और ज्ञान चित्त वृत्ति के निरोध का नाम ही योग है और आत्मा का सम्यग् दर्शन (अपरोक्ष दर्शन) ज्ञान है ।

अन्तः प्राणपरिस्पन्दात् संकल्पकलनोन्मुखी ।
संवित् संजायते येषां तच्चित्तं विद्धि राघव ॥५।७८।१३॥

हे राम जी ! प्राण के परिस्पन्दन से उन्मुख जो संकल्प की कलना संवित ज्ञान उसी को चित्त कहते हैं ।

मनः स्पन्दोपशान्त्याऽयं संसारः प्रविलीयते ।
सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ॥५।७८।१६॥

मन के स्पन्द की शान्ति होने पर संसार ऐसा विलीन हो जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश शान्त होने पर सारा व्यवहार शान्त हो जाता है।

साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम्।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥५।७८।३३॥

हे राम जी! प्राणियों के दो प्रकार के हृदय होते हैं एक उपादेय–ग्राह्य और एक हेय–त्याज्य इन दोनों का भेद सुनिए।

इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद् वक्षसोऽन्तरम्।
हेयं तद् हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥५।७८।३४॥

इयत्ता से परिच्छिन्न देह में वक्षस्थल के भीतर शरीर के एक देश में स्थित जो हृदय हैं उसको हेय समझो।

संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम्।
तदन्तरे च बाह्ये च न च बाह्ये न चाऽन्तरे ॥५।७८।३५॥

संवित् (आत्मा) मात्र हृदय है वह सबके बाहर एवं हृदय के भीतर भी है और न वह बाहर है न भीतर है। उसी को उपादेय समझो।

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥५।७८।४६॥

हे रामजी! अभ्यास से प्राण परिस्पन्द प्राण की

चञ्चलता जब नष्ट हो जाती है तब मन शान्त हो जाता है। केवल निर्वाण मोक्ष ही शेष रह जाता है।

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः॥५।७६।२॥

इस जगत में आदि अन्तरहित अवभास स्वरूप परमात्मा ही है। ऐसे निश्चय को ही विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

इमाघटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः।
आत्मैव नान्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम्॥५।७६।३॥

यह घटपटादि आकार व रूप में प्रतीत होने वाले सैकड़ों पदार्थ आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। इस निश्चय को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कारण से भिन्न कार्य नहीं होता अतः कारण स्वरूप ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ नहीं है।

नानात्वमस्ति कलनासु न वस्तुतोऽन्त
नानाविधासु सरसीषु जलादि नान्यत्।
इत्येक निश्चयमयः पुरुषो विमुक्तः
इत्युच्यते समवलोकितसम्यगर्थः॥५।७६।२०॥

जैसे सरोवर—(तालाबों) में जल फेन बुदबुद आदि जल से पृथक् नहीं है। वैसे ही ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ नानात्व प्रतीत होता है वह वस्तुतः नानात्व नहीं है

केवल बुद्धि में कल्पना है। इस प्रकार सम्यग् विचार करके जो एक वस्तु का निश्चय किया है वही पुरुष मुक्त कहा जाता है।

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च।
जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादपोऽदेह मुक्तिजः ॥५।६०।४॥

चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है। एक स्वरूप नाश दूसरा अरूपनाश जीवन्मुक्त को स्वरूपनाश होता है और विदेहमुक्ति वाले को अरूपनाश होता है।

अयं सोऽहमयं नाऽहमिति चिन्ता नरोत्तमम्।
खर्वीकरोति यं नाऽन्तर्नष्टं तस्य मनो विदुः ॥५।६०।१३॥

यह प्रसिद्ध शरीर ही मैं हूँ उससे भिन्न घट पट आदि में नहीं हूं इस प्रकार की तुच्छ चिन्ता जिस महापुरुष को भीतर से संकुचित नहीं करती उस पुरुष का चित्त नष्ट कहा जाता है।

आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्यं महोत्सवः।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं विदुर्मनः ॥५।६०।१४॥

जिस पुरुष को आपत्ति, कार्पण्य, उत्साह, मद, मान्द्य—(मन्दता) और महोत्सव ये विकार नहीं प्राप्त होते उसके मन को विद्वान् लोग नष्ट चित्त कहते हैं।

भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम्।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥५।६१।१०॥

भाव अभाव—(वृद्धि और क्षय) दोनों दशाओं का जो कोश—निधि तथा विविध दुःख रत्नों का चित्त जो कि आशाओं के वश में रहने वाला है। वह चित्त इस शरीर का कारण है।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥५।९१।१४॥

हे रामजी ! अनेक प्रकार की वृत्तियों को धारण करने वाले चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज है एक प्राणपरिस्पन्द और दूसरा दृढवासना।

दृढभावनयात्यक्तपूर्वापरविचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥५।९१।२९॥

दृढ भावना के द्वारा पूर्वापरविचारों को त्याग कर पदार्थों के ग्रहण को वासना कहा जाता है।

दृढाभ्यासपदार्थैकवासनादतिचञ्चलम्।
चित्तं सञ्जायते जन्म जरामरणकारणम् ॥५।९१।३५॥

दृढ अभ्यास के कारण पदार्थों में अहं मम् आदि जो आत्माभ्यास है यही वासना है। यही वासना जन्म, जरा, मरण का हेतु है। इसी चञ्चलता से चित्त की उत्पत्ति होती है।

यदा ना वास्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत्।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥५।९१।३६॥

जो कुछ भी हेय और उपादेय—(ग्राह्य और त्याज्य) वस्तुओं का मिथ्यात्व होने के कारण त्यागकर जब मन स्थित होता है तब वह उत्पन्न नहीं होता।

अवासनत्वात् सततं यदा न मनुते मनः।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥५।६१।३७॥

हे रामजी ! जब निरन्तर वासनाओं के अभाव होने से मन मनन नहीं करता वहीं अमनस्क मन निरतिशय मोक्षरूपी शान्ति दे देता है।

वासनायारसाध्यानाद्रागो यस्य न विद्यते।
तस्य चित्तमचित्तत्त्वं गतं सत्त्वं तदुच्यते ॥५।६१।४४॥

जिस पुरुष को विषयरसास्वाद के स्मरण से विषय में राग नहीं होता उसका चित्त अचित्तत्व को प्राप्त है और अधिष्ठान भूत सत्ता को प्राप्त करता है ऐसा कहते हैं :

द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥५।६१।४८॥

हे रामजी ! चित्त के दो बीज हैं एक प्राण स्पन्द दूसरा वासना इनमें एक के विनाश होने पर दोनों का विनाश हो जाता है।

संवेद्यसम्परित्यागात् प्राणस्पन्दनवासने।
समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः ॥५।६१।६२॥

जैसे मूल के नष्ट होने पर वृक्ष शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही प्रियाप्रिय वस्तुरूप वासना के त्याग होने पर प्राणस्पन्द और वासना दोनों नष्ट हो जाती है!

न बहिर्नान्तरे किञ्चित् संवेद्यं विद्यते पृथक्।
संविद्स्फुरन्ती संकल्पात् संवेद्य पश्यति स्वतः ॥५।६१।६७॥

संवेद्य संवित में बाहर भीतर कुछ नहीं है। अपने संकल्प से संवित् स्फुरित होती है। और अपने को स्वयं संवेद्य देखती है।

संविन्मात्रं जगत्सर्वं द्वितीया नास्ति कल्पना।
इत्येव सम्यग्ज्ञानेन संविग्दच्छति नान्यताम् ॥५।६१।६६॥

यह सारा जगत् संवित्—ज्ञानमात्र ही है। दूसरा कुछ नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान से ही अद्वयसंविद् का नाम ज्ञान है।

अथास्याः संविदो राम सन्मात्रं जीवमुच्यते।
संविन्मात्रादुदेत्येषा प्रकाशमिव तेजसः ॥५।६१।६७॥

इस संवित् का सन्मात्र जीव कहा गया है। जैसे सूर्य से ही प्रभा उदित होती है उसी प्रकार सन्मात्र ब्रह्म से ही प्रतिबिम्ब रूप में सन्मात्र जीव उदित होता है।

द्वे रूपे तत्र सत्ताया एकं नानाकृतिस्थितम्।
द्वितीयमेकरूपं तु विभागोऽयं तयोः शृणु ॥६८॥

हे रामजी ! सत्ता दो रूप से स्थित है एक अनेक आकार वाली और दूसरी एक आकारवाली उनका विभाग सुनो ।

घटता पटता चैव त्वत्ता मत्तेति कथ्यते ।
सत्तारूपविभागेन यत्तन्नानाकृतिस्थितम् ॥५।६१।६६॥

घटत्व, पटत्व, त्वत्व, मत्व आदि उपाधिभूत सत्ता ही रूप भेद से नानाकार वाली कही जाती है ।

विभागं तु परित्यज्य सत्तैकात्मतयाततम् ।
सामान्येनैव सत्ताया रूपमेकमुदाहृतम ॥५।६१।६६॥

घटत्व पटत्व आदि विभाग को त्यागकर सामान्यतया एक रूप में व्याप्त सत्ता का नाम ही एकरूपता है ।

निर्वाणप्रकरणम् पूर्वार्द्धे

नात्मा शरीर सम्बन्धी शरीरमपि नात्मनि ।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा ॥६।६।६॥

जैसे प्रकाश और तम—(अन्धकार) परस्पर अप्यन्त विलक्षण है वैसे ही आत्मा और शरीर अप्यन्त विलक्षण है न आत्मा शरीर का सम्बन्धी है न शरीर आत्मा का सम्बन्धी है।

अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुण जितयधर्मिणोम् ॥६।९।५॥

सत्वादि तीन गुण धर्मों से युक्त प्रकृति का नाम ही अविद्या है। यही प्राणियों का संसार है। इससे पार हो जाना ही परमपद–(मोक्ष) कहलाता है।

बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथावस्त्ववलोकनात् ।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥६।१०।१३॥

बुद्धिपूर्वक विचार कर अवस्तु—संसार का मिथ्यात्व अवलोकन करने से जो सामान्य सता का बोध होता है। वही अविनाशी मोक्ष है।

वासनायास्तथा वह्नेॠ णव्याधिद्विषामपि ।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥६।१३।२१॥

वासना, अग्नि, ऋण, व्याधि, शत्रु स्नेह, विरोध और विष का थोड़ा भीं शेष होने पर दुःख पहुँचाता है।

एतावदेवाविद्याया नेदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एतदेव क्षयो यस्य ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥५।१०।४४॥

यह जगत् ब्रह्म नहीं है यह निश्चय ही अविद्या है। और यह सारा जगत् ब्रह्म ही है ऐसा निश्चय अविद्या का नाश है।

चिन्मात्रं सर्वमेवेदमित्थमाभासताङ्गतम् ।
नेह सत्यमसत्यं वा क्वचिदस्ति न किञ्चन ॥६।१२।२३॥

यह भान होने वाला सारा जगत् चिन्मात्र स्वरूप ही है। यहाँ सत्य असत्य कोई वस्तु नहीं है। न किसी का अस्तित्व है।

आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवशिष्यते ।
सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥६।१२।३६॥

आपात (आने तक) जब तक विनाश न हो तभी तक रमणीय दिखाई देने वाले भोगों से कुछ लाभ नहीं है सत्संग रूपी चिन्तामणि से तो सबका सारभूत ज्ञान प्राप्त होता है।

आज्ञाचरणमेवाहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ॥६।१२।२॥

सप्पुरुषों की आज्ञा का पालन करना ही उनका मुख्य आराधन है।

सुखतल्पगतो येन स्वप्नदेहेन दिग्तटान् ।
परिभ्रमसि हे राम सदेहस्ते क्व संस्थितः ॥६।२८।२०॥

हे रामजी ! सुखशय्या पर सोये हुए जिस स्वप्नदेह से

दिङ्मण्डल में भ्रमण करते हो वह आपका देह कहाँ स्थित है।

जागरायां मनो राज्ये येन स्वर्गपुरान्तरम् ॥
परिभ्रमसि मेरुं वा स देहस्ते क्व संस्थितः ॥६।२८।२१॥

जाग्रत्दशा में भी मनोराज्य में जिस देह से स्वर्ग एवं नगरों के भीतर या मेरु पर्वत पर जो आप भ्रमण करते हैं वह देह कहाँ स्थित है।

आभासमात्रमेवेदं न सन्नासज्जगत्त्रयम् ।
इत्यन्यकलनात्यागः सम्यगालोकनं विदुः ॥६।२८॥

आभासरूप से प्रतीत होने वाला तीनों लोक न सत् है न असत् है। अतः सम्यग् आलोकन—तत्त्वज्ञान हो कल्पित पदार्थों का त्याग है।

एकेन कल्पिता खे स्त्रीभुङ्क्ते तां दूरगोऽपरः ।
इतीयमङ्ग संसाररचना तेन मा भ्रम ॥५।२८।८४॥

अरे भाई! किसी एक ने आकाश में स्त्री की कल्पना की दूर रहने वाला दूसरा उसको भोगता है। क्या ऐसा हो सकता है? इसी प्रकार की यह संसार रचना है इसलिए आप भ्रम में मत पड़िये।

अपिचित्रनराद्देहनरस्तुच्छतरः स्मृतः ॥६।२६।१३॥

चित्रलिखित नर की अपेक्षा भी देहधारी नर अत्यन्त तुच्छ है। क्योंकि—

आधिव्याधिपरिम्लाने स्वयं क्लेदिनि नाशिनि ।
न तथा स्थिरता देहे चित्रपुंसो यथा किल ॥६।२६।१४॥

आधि व्याधि से निरन्तर दुःखित अश्रु आदि से क्लिन्न और स्वयं विनाशशील इस शरीर में वैसी स्थिरता नहीं रहती जैसी चित्रलिखित पुरुष में स्थिरता रहती है ।

अज्ञातशिवतत्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ॥६।२६।१२४॥

हे ब्रह्मन् शिवतत्त्व से अज्ञात—अपरिचित के लिए मूर्ति पूजन का विधान है । जैसे एक योजन तक चलने में जो अशक्त है उसके लिए एक क्रोश—कोश का मार्ग विधान किया जाता है ।

जायन्ते च म्रियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ॥६।३२।५०॥

शरीरियों का शरीर उत्पन्न होता है और मरता है । जैसे वृक्षों के पत्ते उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं । उसमें शोक करने को क्या बात है ।

नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत ।
निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥६।३६।४४॥

नष्ट तो नष्ट ही हैं । उसकी उपेक्षा कर दो और प्राप्त तो प्राप्त ही है । उसको ग्रहण करो । निर्विकार होकर ऐसा करना ही आत्मा का परमपूजन है ।

अनाद्यन्तमनाभासं सत्किञ्चदिह विद्यते ।
इन्द्रियाणामगम्यत्वाद्यन्न किंञ्चिदिव स्थितम् ॥६।४१।२॥

आदि अन्त से रहित और अनाभास जो स्वयं ज्योतिरूप सद्वस्तु ही विद्यमान है। जो इन्द्रियों से अगम्य होने के कारण कुछ नहीं है ऐसा स्थित लगता है।

बिम्बाद्दूरं प्रयातस्य भित्तावमतितस्य च ।
यदिन्दोस्तेजसो रूपं तद्रूपं शुद्धसंविदः ॥६।४८।६॥

चन्द्रविम्ब से दूर तक फैली हुई तथा भित्ती में आपतित जो इन्दु का तेजोरूप है वहीं शुद्ध संविद का रूप है। महात्मा लोग उसी का अनुभव करते हैं।

नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः ।
न ध्रियते या सा सत्या कीदृग्राम भवेत्किल ॥६।४६।१४॥

जो असत् है भ्रम मात्र है उसे अविद्या कहते हैं। हे राम जिसकी सत्ता ही नहीं है वह सत्य कैसे हो सकता है।

सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयाद् प्रबुद्धस्य दुर्मतेः ।
स करोति सुहृद्वृत्त्या स्थाणोर्दुःखनिवेदनम् ॥६।४६।२०॥

जो अप्रबुद्ध दुर्मति को सर्वं ब्रह्मेति, यह उपदेश करता है वह सुहृद वृत्ति से स्थाणु—(ठूठे वृक्ष) के समक्ष अपना दुःख निवेदन करता है।

ब्रह्म सर्वं जगदिहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥६।५३।२३॥

सारा जगत ब्रह्म हीं है मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ इस प्रकार के बोध को ब्रह्मार्पण कहते हैं।

यन्मयो यो भवत्यन्तः स तदाप्नोत्यसंशयम्।
ब्राह्मसत्यमवाप्तुं त्वं ब्रह्म सत्यमयो भव ॥५।५४।२३॥

जिस मनुष्य का जैसा अन्तःकरण होता है। अर्थात् अपने चित्त में जिस स्वरूप की दृढ़ भावना करता है। वह उस स्वरूप को अवश्य प्राप्त हो जाता है। अतः सत्य ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए तुम भी ब्रह्मरूप सत्यमय हो जाओ।

आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ॥५।५४।२६॥

आशक्ति को ही विद्वान् लोग कर्तृत्व कहते है। अकर्ता में भी यह हो सकता है। किन्तु—

अभ्यासाद् हृदि रूढेन सत्यसंबोधवह्निना।
निर्दग्धं वासनाबीजं न भूयः परिरोहति ॥५।५७।१०॥

अभ्यास के द्वारा हृदय में तत्वज्ञानरूप अग्नि के आरुढ होने पर तथा उस अग्नि से वासना का बीज जल जाने पर फिर अंकुर नहीं देता है।

महेश्वराणां सिद्धानां जीवन्मुक्तशरीरिणाम्।
न क्रियानियमोऽस्तीह स ह्यज्ञस्यैव कल्पितः ॥५।६६।८॥

महेश्वर को सिद्धों को तथा जीवन्मुक्त शरीरियों के लिए कोई क्रिया का नियम नहीं है। क्रिया विषयक नियम तो अज्ञानी के लिए ही कल्पित है।

एकतत्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
मनोविनिग्रहेश्चति मोक्ष शब्दार्थसंग्रहः ॥५।६६।२७॥

एक तत्व (ब्रह्मतत्व) का घनाभ्यास, प्राणों का विलय और मनोनिग्रह यही मोक्ष शब्द के अर्थों का संग्रह है।

त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनः प्रशमनं वरम् ॥५।६६।२६॥

इन तीनों प्रयोगों में भी मन का निग्रह करना ही श्रेष्ठ है। मन जितना ही शीघ्र शान्त हो जायगा उतनी ही शीघ्र तत्व की अनुभूति हो जायगी।

देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् ।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्वज्ञानं परिक्षयः ॥२।८१।१४॥

देह में दुःख का नाम व्याधि है। यही दोनों अज्ञान का मूल है। तत्त्वज्ञान होने पर उसका विनाश हो जाता है।

आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा ।
कालेन क्षीयते लोहं तृष्णा तु परिवर्धते ॥५।६१।६॥

आशा तो लोह के जंजीर से भी भयङ्कर विशाल और दृढ बन्धन है। क्योंकि लोहे का जंजीर तो समय पाकर टूट जाती है किन्तु तृष्णा तो बढ़ती ही रहती है।

साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम् ।
न जडं नाजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥५।६३।३२॥

हे साधो सर्वव्यापी आकारवाला तथा जीव और प्राण

आदि नाम वाला चित्त ही सर्व शब्द से कहा गया है। वह चित्त न जड़ है न चेतन है। किन्तु भ्रान्त है।

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल न विद्यते।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥५।६४।५४॥

हे राजन् जिस कार्य का कारण विद्यमान नहीं है। वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता उसका ज्ञान तो भ्रम ही हैं।

पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना।
सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते ॥५।१०१।२६॥

बार-बार उत्पन्न होने योग्य जो घनी वासना है उसी का नाम चित्त है। आत्मज्ञानी को वह नहीं रहती।

चित्तं निजमहङ्कारं विदुश्चित्तविदो जनाः।
अन्तर्योऽयमहं भावो जन्तोस्तच्चित्तमुच्यते ॥६।११।२८॥

हे आयुष्मन्! चित्त तत्त्व के जानने वाले अपने अहङ्कार को ही चित्त जानते हैं। अतः अन्तःकरण में जो अहं-भाव है वही चित्त कहलाता है।

आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धः सूक्ष्मः शिवः शुभः।
य आत्मा स कथं केन गृह्यते रच्यतेऽथवा ॥६।११३।१५॥

हे रामजी! जो आत्मा आकाश से भी विस्तीर्ण एवं शुद्ध और अत्यन्त सूक्ष्म शिव और शुभरूप है उसको कौन कैसे ग्रहण कर सकता है। और कैसे कोई उसकी रक्षा कर सकता है।

यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥६।१२६।५५॥

जो बृद्धों के आचार तथा शास्त्रों के आचार के पालन करके प्रसन्न चित्त से लोक व्यवहार करता है वह आर्य कहलाता है।

किल तूष्णीं स्थितिनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥६।१२६।६५॥

हे रामजी ! सम्पूर्ण इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि सबको व्यापार करना छोड़कर केवल चुपचाप बैठा हुआ ही पुरुष परम पद को प्राप्त करता है। जिस भूमपूर्णानन्द परम पद हिरण्य गर्भ का भी साम्राज्य तृण के तुल्य हो जाता है।

गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दोविगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु ॥६।१२६।६६॥

जैसे पान्थ (राहगीर) के पैर गम्यदेश में अविच्छिन्न चलते रहते हैं। उसी तरह से विगत संकल्प योगी का भी चित्त पूर्वजन्म के लिए गए अभ्यास से अपने विषय में स्वभावतः स्पन्दन होता रहता है।

अहं ममेति संविदन् न दुःखतोविमुच्यते ।
असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं समाचार ॥६।१२६।१०२॥

अहं और मम इस भावना से पुरुष दुःख से छुटकारा नहीं पाता और अहं मम भावना से रहित पुरुष मुक्त हो जाता है। आपको जो अच्छा लगे सो करो।

उत्तरार्द्ध निर्वाणप्रकरणम्

अहं भावनमेवाहुः कलनं कल्पनां विदुः ।
नभोऽर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥६।१।३॥

कल्पना के स्वरूप जानने वाले शरीर में अहं भावना को ही कल्पना कहते हैं। आकाश के सदृश पारमार्थिक स्वरूप के निरन्तर अनुसन्धान को कल्पना का त्याग कहते हैं।

स्मरणं विद्धि संकल्पं शिवमस्मरणं विदुः ॥६।१।६॥

विषयों के स्मरण को संकल्प समझो, और विषयों के विस्मरण को शिवरूप समझो।

असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥६।१।११॥

संकल्प का परित्याग ही परं श्रेय करने वाला है। अतः अपने हृदय से संकल्प को निकाल दो।

किल तूष्णींस्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥६।१।१४॥

हे राम जी सब प्रकार से संकल्प की चेष्टा त्यागकर केवल चुप चाप बैठने से ही परमपद प्राप्त होता है। जिसमें स्थित होने पर हिरण्यगर्भ का सामान्य भी तृण के तुल्य हो जाता है।

अत्यागं त्यागमिति ये कुर्वते व्यर्थबोधिनः ।
सा भुङ्क्ते तान् पशुरज्ञान् कर्मत्यागपिशाचिका ॥६।३।२६॥

अज्ञानी अत्याग को ही त्याग कहते हैं। उन अज्ञानी पशुओं को कर्म त्यागरूपा पिशाचिका खा जाती है।

किमज्ञत्वा जगज्जातं जगतोऽर्थेकिमज्ञता।
विचार्यापीति नौ विद्म एकत्वादलमेतयोः ॥६।७।८॥

क्या अज्ञान से जगत् हुआ है। अथवा जगत् से अज्ञान हुआ है। विचार करने पर भी हम नहीं समझ सके। एकत्व होने के कारण यह सब कुछ अज्ञान स्वरूप ही है यह हमने निश्चय किया है।

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानाऽवभासानि सारस्याऽनवलोकनात् ॥६।२१।७॥

आत्मज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं। और आत्मज्ञान से भिन्न जो अन्य ज्ञान है। वे सारभूत ब्रह्मज्ञान न होने के कारण ज्ञानावभास ही है।

प्रवाहपतिते कार्ये कामसङ्कल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पंडित उच्यते ॥६।२२।५॥

जो कामना के संकल्प से रहित प्रवाह में पतित (प्रारब्ध से प्राप्त) हुए कार्य में तत्पर रहता है। और हृदय आकाश के तुल्य स्वच्छ प्रकाशमान है वही पंडित कहलाता है।

तज्ज्ञाज्ञयोरशेषेषु भावाभावेषु कर्मसु।
ऋते निर्वासनत्वस्तु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥६।२२।५३॥

हे रामजी ! ज्ञानियों और अज्ञानियों के कार्यों में वासना के भावाभाव के सिवाय दूसरी कुछ विशेषता नहीं है। अर्थात् ज्ञानी का कर्म वासना रहित होता है और अज्ञानियों का कर्मवासना सहित होता है।

अहमित्येव बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये।
एतावन्मात्रके बन्धे स्वायत्ते किमशक्तता ॥६।२५।२०॥

अहं यह बुद्धि बन्ध का कारण होती है। और नाहं यह बुद्धि मुक्ति का कारण होती है। वश इतने (एतावन) मात्र बन्ध में अपने अधीन होने के कारण आशक्तता कैसे।

अहो बतातिविषमा वासना यद्वशाज्जनैः।
अविद्यमानैरेवायं भ्रमोन्तरनुभूयते ॥६।२६।५॥

अहो ! यह वासना कितनी विषम है। जिसके वश से अविद्यमान भी प्राणी इस मिथ्या भ्रम को अपने हृदय में अनुभव करता है।

या सत्ता ब्रह्मशब्दाख्या रूपं सर्वस्य तन्निजम्।
न यत्र काचिद्बाधास्ति सर्वं तन्मयमव्ययम् ॥६।२६।२१॥

ब्रह्म शब्द से जो सत्ता कही जाती है वह सत्ता ही समस्त पदार्थों का अपना निजरूप है इसमें कोई बाधा नहीं है। सारा जगत् तन्मय ही है। इसलिए वह अव्यय है।

अन्तर्मुखतया नित्यं कार्यमाहरतां बहिः।
जीवतामपि नोदेति वासना हसदामिव ॥६।२६।१७॥

नित्य अन्तर्मुख होकर के बाहर के कार्य करने वाले जीवित प्राणि के पाषाण सदृश हृदय में वासना उत्पन्न नहीं होती।

वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते।
तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥६।३१।२६॥

अज्ञानी मनुष्य वासनामय ही है। और विचार करने पर वासना कुछ है नहीं उसको नहीं विचार करने से ही यह संसार उपस्थित होता है।

कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवनम्।
इति तत्वज्ञ संयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥६।३२।१६॥

मैं कौन हूं यह दृष्य प्रपञ्च क्या है। जीव कौन है। और जीवन का स्वरूप क्या है। तत्वज्ञानियों के संग से जीवन-पर्यन्त इन सबका विचार करते रहना चाहिए।

यो यो बोधाति शयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो।
संगमे कथयोदेति तेषां वाद पिशाचिका ॥६।३०।२०॥

अपने से जो जो अधिक ज्ञानवान हों उनसे अलग-अलग संगति करना चाहिए। उनका संगम होने पर उनकी भिन्न-भिन्न उक्तियों से वादरूप पिशाचिका उत्पन्न होगी।

सविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत्।
परमाणूदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥६।३३।१८॥

ये सब जीवों को संवित मात्र ही जानों इन्हीं का फैलाव संसार है। जैसे परमाणु के उदर में ही सैकड़ों पर्वतों का विस्तार है।

द्रष्टा न दृश्यतां याति चितिर्नायाति चेत्यताम्।
चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥६।३६।३४॥

द्रष्टा कभी दृश्य नहीं होता और चिति चेत्य नहीं होती। चेत्य के अभाव में (शुद्ध ब्रह्म में) जगत् न होगा फिर कौन क्या और किस प्रकार चेतित - प्रकाशित करेगा।

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात्।
यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥६।३५।१॥

यह संवित् एक देश से दूसरे देश तक क्षणमात्र में प्राप्त हो जाती है। इन दोनों देशों के बीच में जो निर्मल रूप है। वही आत्मा का रूप है।

इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥६।३६।२५॥

चित्त इच्छामात्र ही है। और उसकी शान्ति का नाम मोक्ष है। वश समस्त शास्त्रों का एवं तप नियम और यम का है। इसी में पर्यवसान है।

निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम्।
यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥६।३६।३८॥

इच्छारहित होने का नाम निर्वाण—मुक्ति है। और

इच्छा सहित होना बन्धन है। अतः यथाशक्ति इच्छा को जीतो। इसमें कौन कठिनता है।

यथा सङ्कल्पनगरं सङ्कल्पान्नैव भिद्यते।
तथाऽयं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥६।४१।२०॥

जैसे सङ्कल्प का नगर सङ्कल्प से भिन्न नहीं होता वैसे ही यह जगत् का आभास परमार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात्।
नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥६।४२।६॥

ज्ञानमात्र शुद्ध आदि मध्य और अन्त से रहित महा चिन्मात्ररूप ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। यह निर्णीत है।

स्मृत्वा स्मृत्वा पदः पूर्वं सन्तोषामृतपोषितः।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥६।४५।१६॥

अपनी पूर्वावस्था को बार-बार स्मरण करके सन्तोष रूपी अमृत से पुष्ट हुआ व्यक्ति अर्थ का (धन) और अनर्थों के नाश होने पर भी परितोष का अनुभव करता है।

परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः।
आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥६।४७।३५॥

विवेकी को यत्नपूर्वक दूसरे का धन न लेने का अभ्यास करना चाहिए इस प्रकार अभ्यास करने पर फिर स्वार्थ से भी विरक्ति ग्रहण करनी चाहिए।

न तादृशं जगत्यस्मिन् दुखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥६।४७।३६॥

इस संसार में जीवनपर्यन्त जैसा धन उपार्जन करने में दुःख होता है वैसा दुःख करोड़ों नरक में भी नहीं होता ।

तस्माद् ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ॥६।६१।११॥

जो जो वस्तु जिस वस्तु का स्वरूपभूत है उसके विनाश के बिना उसका नाश नहीं होता । इसलिए ब्रह्मात्मावस्तु को ब्रह्म की भाँति अक्षय मानो ।

आतिवाहिक देहत्वं प्रत्यच्चं प्रथमोदितम् ।
सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥६।६८।२१॥

चित्त में पहले पहल स्फुरित होने से आतिवाहिक-सूक्ष्म शरीर ही प्रत्यक्ष होता है । और उसी को सत्य और सर्वगत समझिए । और यह आधिभौतिक स्थूल शरीर तो माया-मिथ्या ही है ।

मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः सन्तप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहोलोकस्य मूढता ॥६।६५।२६॥

चित्त की शीतलता (शान्ति) का नाम मोक्ष है । सन्तप्त चित्त का नाम बन्ध है । इस प्रकार के मोक्ष को भी लोक नहीं चाहता है यह उसकी मूर्खता देखो ।

चित्त्वं स्वभावं विस्मृत्य बद्धास्था ये शरीरके ।
तैः सुवर्णं परित्यज्य गृहीतं भस्म वस्तुतः ॥६।६६।२४॥

पुरुष अपने चेतन स्वभाव (स्वरूप) को छोड़ कर शरीर में ही आस्था बाँधे हुए हैं। अर्थात शरीर को ह आत्मा समझ रहे हैं। वे सुवर्ण को छोड़कर भस्म को सोना समझकर ग्रहण किया हो।

भवेद् भ्रमात्मकमपि किञ्चिदर्थक्रियापरम्।
स्वप्नाङ्गनापि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥६।६६।४७॥

कुछ भ्रमात्मक वस्तु में भी अर्थक्रियाकारिता देखी जाती है। जैसे स्वप्न की स्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्यों को सत्य अर्थ क्रिया (संभोग सुख) करती ही है।

यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ।
जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥६।१०५।१८॥

जैसे कलका सूर्य आज के सूर्य के सदृश होते हैं एवं दो नर जुड़वा पैदा होने वाले जो एक सदृश होते हैं वैसे जाग्रत और स्वप्न भी एक सा है। इनमें लेश मात्र का अन्तर नहीं होता। अर्थात जाग्रत का दृश्य और स्वप्न का दृश्य दोनों हो मिथ्या है। इसमें कुछ भो विलक्षणता नहीं है।

चिद्धातोर्यत्स्वकचनं तत्किञ्चित्स्वप्न उच्यते।
किञ्चिच्च जाग्रदित्युक्तं जाग्रत्स्वप्नौ तु न द्विधा ॥६।१३७।३७॥

चित् धातु का जो स्व विकास है। उसमें कुछ स्वप्न हैं और कुछ जाग्रत है ऐसा कहा गया है। अतः जाग्रत और स्वप्न कोई भिन्न भिन्न दो पदार्थ नहीं है।

यं यं निश्चयमादत्ते संवित्स्वदृढनिश्चया ।
तथा तथा भवत्येषा फलयुक्तस्वभावतः ॥६।१४८।५५॥

दृढ निश्चयात्मिका संवित निश्चय करती है फलयुक्त स्वभाव से वैसे ही वैसी हो जाती है ।

आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्नलभ्यते ।
नीयते तद् वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥

आयु का जो एक क्षण है संसार के समस्त रत्नों के देने पर भी नहीं मिल सकता । उस क्षण को जिसने वृथा खो दिया उससे बढ़कर क्या प्रमाद होगा ।

चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तश्चित्तमिति कथ्यते ।
विचार एष एवास्य वासनानेन शाम्यति ।।६।१६०।६७॥

हे रामजी ! चित् का जो चेत्योन्मुखत्व (अर्थात् विषयों की ओर झुकना) है । उसी का नाम चित्त है शास्त्रों का जो श्रवण है यही उसका विचार है इससे वासना क्षय हो जाती है ।

अशरीरस्य न स्वप्नः इत्येतदपि नोचितम् ।
सम्भवन्ति पिशाचाद्यास्तेषां च स्वप्नवत्स्थितिः॥६।१९७।४३॥

अशरीर बिना शरीर धारण किए स्वप्न नहीं होता यह कहना उचित नहीं है। पिशाचादिकों को स्थूल शरीर नहीं हैं और उनकी स्वप्नवत् स्थिति रहती हैं ।

तस्माद् स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादि नानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥६। ९५।४४॥

जैसे स्वप्न में चित्त ही आत्मस्वरूप से पर्वतादि आभास रूप में स्थित रहता है। वैसे ही निराकार परमात्मा ही नाना प्रकार के रूप से संवित्रूप स्वात्मा में स्वप्न के समान स्थित रहता है।

परोपकारेऽविरतं स्वभावेन प्रवर्तते ।
यः स साधुरिति प्रोक्तः प्रमाणं तस्य चेष्टितम् ॥६।१९७।१०॥

अविरत निरन्तर स्वभाव से जो परोपकार मे लगा रहता है उसको साधु कहते हैं। उसकी चेष्टा लोगों के लिए प्रमाण है।

हेयोपादेय दृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै ।
क्रियात्यागे न कोऽर्थः स्यात् क्रियासंश्रयणे न वा ॥६।१९९।२॥

जिसके वस्तुओं में हेय और उपादेय दो दृष्टि होती है जिसकी यह दृष्टि क्षीण हो गयी है उसको क्रिया त्याग (कर्मों के त्याग) से कोई लाभ नहीं और कर्मों के करने से भी कोई लाभ नहीं।

यावदायुरियं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥६।१९९।५॥

हे रामजी ! जब तक आयु है इस शरीर में अवश्य

चेष्टा रहेगी अतः यथा प्राप्त प्रारब्धानुकूल चेष्टा अव्यग्र होकर करते रहना चाहिए। इससे दूसरे की काई हानि नहीं है।

सर्वं शान्तं निरालम्बं ज्ञप्तिमात्रमनामयम्।
नेह सत्ता न वा सत्ता न च नानास्ति किञ्चन ॥६।२०५।३५॥

यह सब दृश्य जगत् शान्त निराधार निरामय ज्ञानमात्र हैं न जगत् की सत्ता है न असत्ता ही हैं। और न नानात्व ही है।

कायवाङ्मनसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम्।
गुरोरुत्तीर्णता सैव नान्या केनाऽपि कर्मणा ॥६।२१६।२३॥

शिष्यों को काम (शरीर) वाणी मन से गुरु के लिए आत्म निवेदन कर देना यही गुरु के उपकार से उत्तीर्णता (निस्तार) कहा गया है। और दूसरे कर्म से निस्तार नहीं हो सकता।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवशिष्ठं नताः स्मः ॥६।२१६।२६॥

ब्रह्मानन्द परम सुख के देने वाले केवल ज्ञानमूर्ति द्वन्द्वातीत आकाश सदृश निर्मल तत्वमसि इत्यादि वेदान्त वाक्यों के लक्ष्यार्थभूत एक नित्य विमल अचल सब बुद्धि

वृत्तियों के साक्षी और सर्वभावातीत त्रिगुण से रहित श्रीवशिष्ठ रूप गुरू को नमस्कार है।

श्री नर्वदा प्रसाद लाठ द्वारा चयन एवं श्री स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती व महेश शास्त्री द्वारा भाषानुवाद योगवासिष्ठसारः।

